भगवान श्री 1008 महावीर स्वामी जी की 2600 वीं जन्म जयन्ती
के पुनीत अवसर पर निर्ग्रन्थ ग्रन्थमाला की नवीन प्रस्तुति

कविवर पुष्पदंत जी विरचित

यशोधर चरित्र

निर्ग्रंथ ग्रंथ माला समिति
दूसरा माला
खुलने का समय 10 से 1 बजे तक
मो0 9219997181

निर्ग्रंथ ग्रन्थमाला

उपाध्याय मुनि निर्णय सागर

संस्करण : प्रथम - सन् 2002
I.S.B.N. No. : 81-878280-72
निर्ग्रंथ ग्रन्थमाला : ग्रथांक-15

यशोधर चरित्र
कविवर पुष्पदंत विरचित

पावन आशीष : राष्ट्रसंत आचार्य श्री 108 विद्यानन्द जी महाराज

सम्पादक : उपाध्याय मुनि निर्णय सागर

सहयोगी :
ऐलक श्री 105 विमुक्त सागर जी
क्षुल्लक श्री 105 विशंक सागर जी

प्रकाशक :
निर्ग्रंथ ग्रन्थमाला

मुद्रक :
अनिल कुमार जैन
चन्द्रा कॉपी हाउस,
होस्पीटल रोड, आगरा (उ.प्र.)
✆ 360195, 260938

@ सर्वाधिकार सुरक्षित : प्रकाशकाधीन

मूल्य : स्वाध्याय (लागत मूल्य 20/-)

शास्त्र प्राप्ति स्थान :

- 1. चन्द्रा कॉपी हाउस, हॉस्पीटल रोड, आगरा (उ0प्र0)
- 2. श्री दि0 जैन लाल मंदिर, चाँदनी चौक, नई दिल्ली
- 3. अ0 भा0 सम्यग्ज्ञान शिक्षण समिति शाखा हट्ट, दमोह (म0प्र0)
- 4. धर्म जाग्रति संगठन व महावीर संगठन, फिरोजाबाद (उ0प्र0)
- 5. वारट जैन फाउन्डेशन, 59/2 बिरहाना रोड, कानपुर (उ0प्र0)

Serial No. - 15 I.S.B.N. No. : 81-878280-72

YASHODHAR CHARITRA

of

Kavivar Pushpdant

Edited by

Upadhyaya Muni Nirnaya Sagar

Published by

Nirgranth Granthmala

उपाध्याय मुनि श्री निर्णय सागर द्वारा रचित एवं सम्पादित ग्रंथावली

सुकुमाल चरित्र
चारुदत्त चरित्र
गौतम स्वामी चरित्र
महीपाल चरित्र
जैन व्रत कथा संग्रह
धन्य कुमार चरित्र
सुलोचना चरित्र
सुभौम चक्रवर्ती चरित्र
जिन दत्त चरित्र
कुरल-काव्य
पुराण सार संग्रह - 1
पुराण सार संग्रह - 2
चेलना चरित्र
रयणसार
आहार दान
जिन श्रमण भारती
धर्म संस्कार भाग-1
सदार्चन सुमन
तनाव से मुक्ति
धम्म रसायणं
अराधना कथाकोश-1,2,3
तत्वार्थ सार
योगामृत
सार समुच्चय

महापुराण-1
महापुराण-2
चित्रसेन पद्मावती चरित्र
श्री राम चरित्र
अमरसेण चरिउ
नागकुमार चरित्र
सर्वोदयी नैतिक धर्म
पुण्यास्रव कथाकोष भाग-1
पुण्यास्रव कथाकोष भाग-2
करकंड चरित्र

निर्ग्रन्थ ग्रन्थमाला

यदि यह शास्त्र आपको अच्छा लगे तो आप सभी को पढ़ायें। उत्सव, व्रत, त्यौहार, जन्म दिवस, पुण्य स्मृति के उपलक्ष्य में बाँटने एवं छपने योग्य समझें तो लागत मूल्य पर छपवाइये। ट्रस्ट -न्यास- फाउंडेशन आदि द्वारा छपवाना चाहते हो तो उनके नाम, चित्र, परिचय सहित छपवा सकते हैं।

प्रकाशक

सत्यमेव जयते

विशेष कार्य अधिकारी
OFFICER ON SPECIAL DUTY

राष्ट्रपति सचिवालय,
राष्ट्रपति भवन,
नई दिल्ली-110004,

President's Secretariat,
Rashtrapati Bhavan,
New Delhi-110004.

सं : 8 एम.एच/2001

दिनांक : 08 जनवरी, 2002

प्रिय श्री जैन जी,

भारत के राष्ट्रपति श्री के.आर. नारायणन् जी को यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि भगवान महावीर स्वामी की 2600वीं जयंती के अवसर पर पूर्व दिगम्बर जैनाचार्यों द्वारा प्रणीत व उपाध्याय श्री निर्णय सागर जी महाराज द्वारा सम्पादित एवं रचित 26 धार्मिक ग्रंथों का प्रकाशन आरम्भ किया जा रहा है।

राष्ट्रपति जी इन प्रकाशनों की सफलता के लिए अपनी शुभकामनाएं प्रेषित करते हैं।

सादर,

आपका,

(प्रेम प्रकाश कौशिक)

श्री राजेन्द्र प्रसाद जैन,
मंत्री,
श्री पार्श्वनाथ दि. जैन मंदिर,
एन-10, ग्रीन पार्क एक्स.,
नई दिल्ली-110016

सम्पादकीय

श्री जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रणीत जिनागम चार अनुयोगों में विभक्तहै, जिस प्रकार गाय के चारों स्तनों में दूध समान वर्ण, शक्ति स्वाद, स्पर्श व उपयोगिता से युक्तहोता है उसी प्रकार पुष्प की चार पंखुड़ी की तरह ही प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग एवं द्रव्यानुयोग ये जिनवाणी के चार अनुयोग हैं। जिनवाणी का प्रत्येक शब्द प्राणी मात्र का कल्याण करने में समर्थ है, यदि हम उस शब्द का सही अर्थ समझने का प्रयास करें तो। जैन दर्शन में सभी कथन सापेक्ष हैं निरपेक्ष कथन तो अकल्याणकारी ही होता है। जिन वचन ही समस्त भव रोगों के लिए परमौषधि के समान है। इन्हीं का (जिन वचनों का) समीचीन आश्रय/अवलम्बन भव्य जीवों को भव वारिधि से तारने के लिए समुचित व समर्थ नौका के समान है। जिन वचनों की महिमा के बारे में आचार्य भगवन् श्री कुन्दकुन्द स्वामी जी कहते हैं–

जिण वयण मोसह मिणं, विसय सुह विरेयणं अमिद भूयं।
जर मरण वाहि हरणं, खय करणं सव्व दुक्खाणं ॥17 ॥द. पा.

जिनेन्द्र भगवान के वचन रूपी यह औषधि विषय सुखों का विरेचन करने वाली तथा अमृतभूत है। जन्म, जरा, मृत्यु रूपी रोगों की परिहारक एवं सर्व दुखों का क्षय करने वाली है। उस परमौषधि का सेवन हमें अपनी पात्रता के अनुसार करना है। जिस प्रकार कुशल वैद्य रोगी की वय, रोग, शक्ति प्रकृति, मौसम का प्रभाव देखकर, औषधि की मात्रा, सेवन की विधि व पथ्यापथ्य की बातों का समीचीन विचार करके ही रोगी को औषधि का सेवन कराता है, उसी प्रकार परम पूज्य श्री दिगम्बर जैनाचार्य रूपी कुशल वैद्यों के निर्देशानुसार हम सभी को भी क्रमशः जिनागम का स्वाध्याय करना है तभी हम जन्म, जरा, मृत्यु जैसे रोगों से मुक्तिप्राप्त कर सकते हैं। यदि हमने कुशल वैद्य के निर्देशों व सुझावों की उपेक्षा करके स्वेच्छाचारिता पूर्वक (मनमाने ढंग से) औषधि का सेवन किया तो हो सकता है रोग नष्ट होने की बजाय बढ़ भी सकता है। तथा साथ में अन्य भी कई रोग पैदा हो सकते हैं अतः जिनागम (जिनेन्द्र भगवान या आप्त प्रणीत, गणधर भगवन्तों द्वारा संग्रहीत एवं दिगम्बर मुनियों द्वारा लिपिबद्ध शास्त्रों को ही जिनागम कहते हैं) का प्रत्येक अक्षर, शब्द, पद, वाक्य श्रद्धान के योग्य हैं। जिनवाणी का कोई भी अंश/अंग उपेक्षणीय नहीं है। आचार्य भगवन् श्री शिव कोटि महाराज कहते हैं –

पद मक्खरं च एक्कंपि जो ण रोचेदि सु णिदिट्ठं।
सेसं रोचंतो वि हू मिच्छा दिट्ठी मुणेयव्वा ॥ (मूलाराधना)

जो जिनागम में प्रणीत एक भी अक्षर, शब्द, वाक्य या गाथा की श्रद्धा न करे और समस्त आगम को माने या उस पर श्रद्धा करे तो भी वह मिथ्या दृष्टि है अतः कोई भी अनुयोग कभी अकल्याणकारी नहीं होता अपनी पात्रता के अनुसार सभी का स्वाध्याय करना चाहिए।

प्रथमानुयोग के ग्रंथों में त्रेसठ शलाका के महापुरुषों का जीवन चरित्र दर्शाया गया है "उन्होंने जीवन में जो शुभाशुभ क्रियायें की, पुण्य पाप का बंध किया उसका क्या फल प्राप्त हुआ" का वर्णन है। एवं कर्म सिद्धान्त को प्रत्यक्ष दूरदर्शन (चलचित्र) पर चल रहे चित्रों की तरह दिखाया गया है। प्रथमानुयोग के शास्त्रों का प्रारम्भिक दशा में (स्वाध्याय के क्रम में) स्वाध्याय अत्यन्त आवश्यक है। इस अनुयोग का स्वाध्याय करने से पापों से भीति, जिनेन्द्र भगवान में प्रीति, सच्चे देव, शास्त्र, गुरु व जिनधर्म में अनुराग व रुचि, संयम प्राप्ति की प्रबल भावना, संसार शरीर भोगों से उदासीनता/विरक्ति रत्नत्रय में अनुरक्तिकी भावना जागृत होती हैं। आचार्य भगवन् समन्तभद्र स्वामी जी कहते हैं –

प्रथमानुयोग मर्थाख्यानं चरितं पुराण मपि पुण्यम्।
बोधि समाधि निधानं बोधति बोधः समीचीनः ॥43॥ र. श्रा.

प्रथमानुयोग पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादक है। पुराण/पौराणिक पुरुषों के पुण्य चरित्र का कथन करता है यह बोधि (रत्नत्रय – सम्यक दर्शन, ज्ञान, चारित्र) एवं समाधि– निर्विकल्प ध्यान की अवस्था (जो अभेद रत्नत्रय के प्राप्त होने पर शुद्धोपयोगी मुनि के आत्मा में लीन होने पर प्राप्त होती है जिसे आत्मानुभूति भी कहते हैं इसका प्रारंभ सातवें अप्रमत्त गुणस्थान से होता है इसके पूर्व शुद्ध आत्मा की प्रत्यक्षानुभूति कदापि संभव नहीं है। अर्थात् असम्भव है) का खजाना हैं ऐसे समीचीन बोध को देने वाला प्रथमानुयोग/कथानक है अपितु उनमें श्रावक धर्म व मुनि धर्म का कथन करने वाला चरणानुयोग भी उपलब्ध होता है। गुणस्थानों, मार्गणा स्थानों, दस प्रकार के करणों एवं त्रिलोक संबधी कथन होने से करणानुयोग, जीव की स्थिति तथा जीवादि द्रव्यों के स्वभाव, शुद्ध गुण, पर्याय का कथन भी प्रथमानुयोग में मिलने से द्रव्यानुयोग भी दृष्टिगोचर होता है। प्रथमानुयोग में भी संक्षेप रूप से चारों अनुयोगों का कथन मिल जाता है ऐसा कहना भी कोई अतिशयोक्तिनहीं है।

स्वाध्याय से विमुख या एकान्तवाद की पंक में लिप्त जो अज्ञ महानुभाव प्रथमानुयोग को कथा कहानी कहकर उसकी उपेक्षा करते ही हैं वे अपने जीवन के साथ खिलवाड़ तो करते हैं साथ ही जिनागम की अवहेलना कर अन्य भव्य जीवों के पतन में भी कारणरूप से सहभागी हो जाते हैं।

अतः मन्द कषायी, भद्र परिणामी, प्रशम, संवेग भाववुक्तउन समस्त स्वाध्याय प्रेमी, सत् श्रद्धालु धर्मस्नेही, आत्महितेच्छुक, पाप भीरु महानुभावों के लिए विनम्र सुझाव/निर्देश है कि वे जिनेन्द्र भगवान की वाणी का अपलाप करके पाप के भागीदार न बनें, अपितु समीचीन शास्त्रों का समीचीन विधि से स्वाध्याय करके स्वपर के कल्याण में सहयोगी बनें। सम्यक्ज्ञान रूपी नेत्र के बिना जीव कभी भी अपना कल्याण नहीं कर सकता है अतः यथाशक्तिनित्य विनय पूर्वक विशुद्ध भावों से स्वाध्याय करने का समीचीन प्रयास करें।

इस ग्रंथ के पुनः प्रकाशन का उद्देश्य यही है कि अधिक से अधिक भव्य जीव स्वाध्याय के लिए प्रेरित हों। वर्तमान में स्वाध्याय की परम्परा मंद होती चली जा रही है क्योंकि जो स्वाध्याय करना चाहते हैं वे (प्रारम्भिक स्वाध्यायार्थी) बड़े-ग्रंथों को देखकर ही अपना साहस खो बैठते हैं। तथा प्रथमानुयोग के ग्रंथ सर्वत्र सहज सुलभ भी नहीं हो पा रहे हैं अधिकांशतः एकान्तवाद से दूषित साहित्य दृष्टिगोचर हो रहा है जिससे प्राणी मिथ्यात्व रूपी अंधकार में भटकते हुए भव भ्रमण की वृद्धि ही कर रहे हैं अतः प्रथमानुयोग के लघु शास्त्रों का प्रकाशन इस युग की आवश्यकता की पूर्ति में सहयोगी सिद्ध होगा।

इस ग्रंथ के सम्पादन में मुझ अल्पज्ञ साधक के द्वारा जो त्रुटि रह गई हों तो सकल संयमी विज्ञजन मुझे क्षमा करते हुए भूल सुधारने हेतु संकेत देने का कष्ट करें, इसमें जो त्रुटि हैं वे सब मेरी अल्पज्ञता की द्योतक हैं, तथा जो भी अच्छाई हैं वे सब परम पूज्य आचार्य भगवन्तों का सुप्रसाद ही हैं। अतः गुणग्राही बन कर गुण ग्रहण करें।

"अलमति विस्तरेण"

कश्चिदल्पज्ञ श्रमणः
जिन चरण चञ्चरीक
टूंडला (3.12.2000)

ooo

भगवान महावीर स्वामी और उनके सिद्धान्त

भगवान महावीर स्वामी जैन धर्म के चौबीसवें/अंतिम तीर्थंकर थे, किंतु जैन ऐतहासिक परम्परानुसार वे जैन धर्म के न तो आदि प्रवर्तक थे और न ही सदा के लिए अंतिम तीर्थंकर। जैन धर्म की स्थापना किसी व्यक्ति विशेष के माध्यम से नहीं हुई क्योंकि यह जैन धर्म 'वस्तु के स्वभाव को ही धर्म कहता है'। संसार में विद्यमान समस्त पदार्थ अनादि निधन हैं यह सृष्टि भी अनादि-निधन है अत: पदार्थों का कभी अभाव नहीं होता। यथा जल का स्वभाव शीतलता व अग्नि का स्वभाव उष्णता है। ये स्वभाव अनादि-निधन हैं। इन्द्रिय व कर्म विजेता जिनधर्म प्रवर्तक जिनेन्द्र भगवान व तीर्थंकर अनादि काल से होते आ रहे हैं और अनंत काल तक होते रहेंगे। तीर्थंकर महापुरुषों द्वारा उपदिष्ट धर्म में अपने अपने युग के अनुसार विशेषताएँ भी रहती हैं और उनके मौलिक स्वरूप में तालमेल भी बना रहता है।

वर्तमान युग में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव हुए, जिनका वर्णन न केवल जैन पुराणों में अनिवार्यत: आता है, अपितु भारत के प्राचीन ग्रंथों ऋग्वेद आदि में भी बाहुल्यत: मिलता है। यथा-ऋग्वेद के 10 वें पर्व की 102 व 10 वीं ऋचा में, इसी पर्व की 136, 166, 233 ऋचाओं में; इसके अतिरिक्त भाग 0 पुराण 5, 6 में व विष्णु पुराण के 3, 18 में भी वृषभनाथ के केशी, वातरसना, ऋषभनाथ आदि नाम ध्यान देने योग्य हैं।

उन वृषभदेव से लेकर महावीर भगवान पर्यंत 24 तीर्थंकरों के चरित्र का विधिवत् वर्णन जैन पुराणों में है।

धार्मिक, सैद्धान्तिक, दार्शनिक, आध्यात्मिक, आगमिक दृष्टियों से उनमें एक रूपता तथा एक आत्मा की व्याप्ति प्रकट करने के लिए महावीर स्वामी के पूर्व जन्म की परम्परा भगवान वृषभदेव से जुड़ी हुई है।

पुरुरवा भील से मारीचि तक

पुरुरवा भील जिसने जंगल में शिकार करते समय 'सागरसेन' मुनिराज के दर्शन करने मात्र से कौए के मांस का त्याग किया था। इस नियम का उसने विषम परिस्थितियों में भी पालन किया। वही पुरुरवा भील मृत्यु के उपरांत सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ। वहां से प्रथम तीर्थंकर वृषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती (जिसके नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा) का पुत्र मारीचि कुमार हुआ। 'भरत चक्रवर्ती के नाम से इस देश का नाम भारत पड़ा' यह कथन वैदिक पुराणों में भी एक मत से स्वीकार किया गया है यथा-

भागवत पुराण	5, 4, 9, 11, 2
विष्णु पुराण	2, 1, 31,
वायु पुराण	33,52
अग्नि पुराण	107,11,12
ब्रह्माण्ड पुराण	14,5,62

लिंग पुराण	1,47,23
स्कन्द कुमार खण्ड	37,57
मार्केण्डय पुराण	50, 41

इत्यादि पुराणों आदि में उपरोक्त कथन का स्पष्टतः उल्लेख है।

मारीचि से सिंह पर्याय तक

मारीचि ने वृषभदेव के चरणों में जिनदीक्षा अंगीकार कर ली, किंतु वह आदि तीर्थंकर द्वारा निर्दिष्ट कठोर मुनिव्रतों का पालन नहीं कर सका अतः वह मुनि पद से भ्रष्ट हो गया मात्र अल्प काल ही मुनि रहा। इस पद से भ्रष्ट होने के बावजूद भी उसमें धर्म का बीजारोपण तो हो ही चुका था अतएव वह परिव्राजक साधु बन गया। भगवान वृषभदेव से अपने बारे में 'यह तीर्थंकर होगा' यह सुनकर अहंकार से जिनमत को छोड़कर 363 मिथ्यामतों की स्थापना करने वाला हुआ। दुर्धर कुतप करने से एवं अज्ञानतापूर्वक चारित्र का परिपालन करने से वह देव हुआ। पुनः अनेक बार देव, मनुष्य, तिर्यञ्च, नारकी पर्याय में मारीचि ने भ्रमण किया। असंख्यात् भवों को धारण कर कुछ कम एक कोड़ा-कोड़ी सागरोपम काल तक उसने परिभ्रमण किया।

अन्यत्र यह लिखा है कि सौधर्म स्वर्ग से आकर अग्निसह ब्राह्मण हुआ। पुनः स्वर्ग गया। वहां से च्युत होकर अग्निमित्र परिव्राजक बना। पश्चात् माहेन्द्र स्वर्ग गया वहां से च्युत हो भारद्वाज ब्राह्मण हुआ। पुनः परिव्राजक बन कर माहेन्द्र स्वर्ग गया वहां से निकलकर उसने तिर्यञ्च गति में व अधोगति में परिभ्रमण किया पुनः मारीचि का जीव सागरोपम काल के लिये इतर निगोद गया इसके अनन्तर उसने इन भवों को धारण किया-

1000 (एक हजार)	आक के वृक्ष के भव
80,000 (अस्सी हजार)	सीप के भव
20,000 (बीस हजार)	नीम के भव
90,000 (नब्बे हजार)	केलि के भव
3,000 (तीन हजार)	चन्दन के भव
5,00,00,000 (पांच करोड़)	कनेर के भव
60,000 (साठ हजार)	वेश्या के भव
5,00,00,000 (पांच करोड़)	शिकारी के भव
20,00,00,000 (बीस करोड़)	हाथी के भव
60,00,00,000 (साठ करोड़)	गधा के भव
30,00,00,000 (तीस करोड़)	श्वान के भव
20,00,00,000 (बीस करोड़)	नारी के भव
8,00,00,000 (आठ करोड़)	घोड़ा के भव
20,00,00,000 (बीस करोड़)	बिल्ली के भव

80,00,000 (अस्सी लाख)	देव पद के भव
60,00,000 (साठ लाख)	नपुंसक के भव
90,00,000 (नब्बे लाख)	धोबी के भव
60,00,000 (साठ लाख)	अकाल मरण, गर्भपात के भव
50,000 (पचास हजार)	राजा के भव

अनेक भव सुपात्र को दान देने से भोगभूमि के व कुपात्र को दान देने से कुभोग भूमि के प्राप्त किये।

तदनन्तर जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड के मगध देश के राजगृह नगर में वेद पारंगत शांडिल्य ब्राह्मण की पाराशरी ब्राह्मणी से 'स्थावर' नामक पुत्र हुआ। पुनः वेद पारंगत होकर परिव्राजक बन माहेन्द्र स्वर्ग में सात सागर की आयु का धारक देव हुआ। वहां से चयकर इसी राजगृह नगर में विश्वभूति नाम्नक राजा की जैनी नामक रानी से विश्वनंदी नामक पुत्र हुआ। इसी विश्वभूति राजा का भाई विशाखभूति था। एक दिन अपने विश्वभूति राजा विरक्त हो अपने छोटे भाई को राज्य पद व अपने पुत्र को युवराज पद देकर जैनेश्वरी दीक्षा लेकर कठिन तप करने लगा।

किसी दिन विश्वनंदी युवराज के मनोहर नामक बगीचे को देखकर चाचा के पुत्र विशाखनंदी ने अपने पिता से उसकी याचना की। विशाखभूति राजा ने भी मायाचारी से विश्वनंदी को शत्रुओं पर आक्रमण के लिए भेजकर वह उद्यान अपने पुत्र के लिए दे दिया। विश्वनंदी को इस बात का पता लगाते ही उसने वापिस आकर विशाखनन्दी को पराजित कर दिया और उसको भयभीत देख विरक्त होकर उसको उद्यान सौंप कर आप स्वयं दैगम्बरी दीक्षा लेकर तप करने लगा।

घोर तपश्चरण करते हुए अत्यन्त कृश शरीरधारी विश्वनंदी मुनिराज एक दिन मथुरा नगरी में आहार के लिए आये। व्यसनों से भ्रष्ट यह विशाखनन्दी उस समय किसी राजा का दूत बनकर वहां आया हुआ था और एक वेश्या के भवन की छत पर बैठा मुनि को देख रहा था। दैवयोग से वहां एक गाय ने मुनिराज को धक्का देकर गिरा दिया। उन्हें गिरता देख क्रोधित हुआ विशाखनंदी बोला कि 'तुम्हारा पराक्रम हमें मारने को पत्थर का खम्भा तोड़ते समय देखा गया था वह आज कहां गया? इस प्रकार खोटे वाक्यों को सुनकर मुनिराज के मन में भी क्रोध आ गया और बोले कि इस हंसी का फल तुझे अवश्य मिलेगा। और अंत में निदान सहित सन्यास से मरण कर मुनिराज महाशुक्र स्वर्ग में देव हुए और विशाखभूति राजा (चाचा) का जीव भी वहां पर तप पूर्वक मरण करके देव हुआ। चिरकाल तक सुख भोगकर वे दोनों वहां से च्युत होकर सुरम्य देश के पौदनपुर नगर में प्रजापति महाराज की जयावती रानी से विशाखभूति का जीव 'विजय' नामक बलभद्र पदवी धारक पुत्र हुआ और उन्हीं की दूसरी मृगावती रानी से विश्वनंदी का जीव नारायण पद धारक त्रिपृष्ठ नामक पुत्र हुआ एवं विशाखनंदी का जीव चिरकाल तक संसार में परिभ्रमण कर विजयार्द्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी के अलकापुर नगर में मयूरग्रीव विद्याधर की नीलाञ्जना रानी

से अश्वग्रीव का नाम प्रतिनारायण पद का धारक पुत्र हुआ। पूर्व जन्म के संस्कार से त्रिपृष्ठ नारायण ने अश्वग्रीव प्रतिनारायण को मारकर चक्र रत्न प्राप्त किया। चिरकाल तक राज्य सुख को भोगकर अंत में भोगासक्ति से मरकर सांतवें नरक को प्राप्त किया। वहां के दुखों को सागरों पर्यंत सहकर उसी भरत क्षेत्र की गंगा नदी के तट के समीपवर्ती वन में सिंहगिरि पर्वत पर सिंह हुआ, वहां भी तीव्र पाप से पुनः प्रथम नरक को प्राप्त किया। वहां एक सागर तक दुख भोग कर जम्बूद्वीप में सिंहकूट की पूर्व दिशा में हिमवन पर्वत के शिखर पर सिंह हो गया।

सिंह का उत्थान

किसी समय यह सिंह किसी हरिण को पकड़ कर खा रहा था। उसी समय अतिशय दयालु 'अजितंजय' नामक चारण मुनि अमितगुण नामक चारणमुनि के साथ आकाश में जा रहे थे। उन्होंने उस सिंह को देखा, देखते ही वे तीर्थंकर के वचनों का स्मरण कर दयावश आकाशमार्ग से उतरकर उस सिंह के पास पहुंचे और शिलातल पर बैठकर उच्च स्वर से सम्बोधन कर धर्ममय वचन कहने लगे। उन्होंने कहा कि हे मृगराज! तूने पहले त्रिपृष्ठ नारायण के भव में इन्द्रियों में आसक्त होकर मरकर नरक पर्याय प्राप्त की। वहां के दुख भोगकर वहां से निकलकर सिंह पर्याय पाकर क्रूरकर्मी होकर पुनः नरक गया अब वहां से निकलकर पुनरपि सिंह पर्याय को प्राप्त हुआ है। अरे मृगराज !

अब इस भव से तू दशवें भव में अन्तिम तीर्थंकर होगा। यह सब मैंने श्रीधर तीर्थंकर के मुख से सुना है। हे बुद्धिमान! अब तू आज से संसार रूपी अटवी में गिराने वाले मिथ्यामार्ग से विरत हो और आत्मा का हित करने वाले मार्ग में रमण कर।

इस प्रकार उस सिंह ने मुनिराज के वचन हृदय में धारण किये तथा उन दोनों मुनिराजों की भक्ति के भार से नम्र होकर बार-बार प्रदक्षिणाएं दीं बार-बार प्रणाम किया। शुभ निमित्त के मिल जाने से शीघ्र ही तत्व श्रद्धान धारण किया और मन स्थिर कर श्रावक के व्रत ग्रहण कर लिये।

इस प्रकार संयमासंयम के व्रतों का पालन करते हुए सिंह अन्त में सन्यास धारण करके एकाग्रचित्त से मरा अंत में सौधर्म स्वर्ग में सिंहकेतु नामक देव हुआ। वहां दो सागर तक सुखों को भोग कर वहां से च्युत होकर धातकीखंड के पूर्व विदेह की मंगलावती देश के विजयार्द्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी के कनकमाला नगर के राजा कनकपुंख विद्याधर और कनकमाला रानी के गर्भ से कनकोज्ज्वल नामक पुत्र हुआ। किसी समय मंदर पर्वत पर 'प्रियमित्र' मुनिराज से दीक्षा लेकर अंत में समाधि से मरणकर सांतवे स्वर्ग में देव हुआ। वहां से च्युत होकर इसी अयोध्या नगरी के राजा वज्रसेन की शीलवती रानी से हरिषेण नामका पुत्र हुआ। पुनः राज्य भार को छोड़कर श्रुतसागर मुनि से दीक्षा लेकर आयु के अंत में महाशुक्र स्वर्ग में देव हुआ। वहां से च्युत होकर धातकीखंड के पूर्व विदेह की पुष्कलावती देश की पुण्डरीकिणी नगरी के राजा सुमित्र और उनकी मनोरमा रानी से प्रियमित्र पुत्र हुआ। इस प्रियमित्र ने चक्रवर्ती के वैभव को प्राप्त किया था।

अनन्तर क्षेमंकर तीर्थंकर से दीक्षा लेकर आयु के अंत में सहस्रार स्वर्ग में देव सुख का अनुभव कर जम्बूद्वीप के छत्रपुर नगर में नन्दिवर्धन महाराजा की वीरवती महारानी से नन्द नामक पुत्र हुआ। यहां पर भी अभिलक्षित राज्य सुख को भोग कर प्रोष्ठिल नाम के गुरु के पास दीक्षा लेकर उग्र तपश्चरण करते हुए ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त कर लिया और दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का चिंतवन कर तीर्थंकर नमकर्म का बंध किया। आयु के अंत में सब प्रकार की आराधनाओं को प्राप्त कर अच्युत स्वर्ग के पुष्योत्तर विमान में श्रेष्ठ इन्द्र हुआ।

जब इस इन्द्र की आयु 6 महीने शेष थी तब इस भरत क्षेत्र के विदेह नामक देश सम्बन्धी कुण्डलपुर नगर के राजा सिद्धार्थ के भवन के आंगन में इन्द्र की आज्ञा से कुबेर के द्वारा की गयी प्रतिदिन साढ़े दश करोड़ या चौदह करोड़ रत्नों की मोटी धारा बरसने लगी।

श्री शुभमिती आषाढ़ शुक्ला षष्ठी, शुक्रवार 17 जून ईसवी सन् से 599 वर्ष पूर्व की रात्रि के पिछले प्रहर में सिद्धार्थ महाराज की रानी प्रियकारिणी ने सोलह स्वप्न देखे एवं प्रभात में अपने पतिदेव से उन स्वप्नों का फल सुनकर सन्तोष प्राप्त किया। अनन्तर देवों ने आकर भगवान का गर्भ कल्याणक उत्सव मनाते हुए माता-पिता की विधिवत् पूजा की। अर्थात् माता त्रिशला के गर्भ में अच्युतेन्द्र का जीव आ गया।

जन्म कल्याणक

नव मास व्यतीत होने पर चैत्र सुदी 13 सोमवार 27 मार्च ईसवी सन् से 598 वर्ष पूर्व माँ त्रिशला ने तीर्थंकर बालक को जन्म दिया। उनके जन्म से तीनों लोको में क्षण भर के लिए शांति की लहर छा गई। उनके जन्म से सर्वत्र सुख शांति, धर्म, लक्ष्मी, यश आदि की वृद्धि हुई थी। इसलिये उनका नाम वर्धमान रखा गया। सौधर्म इन्द्र ने मेरु पर्वत की पांडुक शिला पर असंख्यात देव समूह के साथ उन भगवान बालक का अभिषेक किया।

संजयंत व विजयंत नामक मुनिराजों का संशय उनको देखने मात्र से दूर हो गयाथा। अतः उन्होंने उनको 'सन्मति' कहकर सम्बोधित किया। बाल्यावस्था में ही संगम देव द्वारा ली गई परीक्षा में वे सफल हुए। संगम देव इनकी शक्ति व निर्भयता देखकर दंग रह गया, उसने नम्रीभूत होकर उनकी 'महावीर' नाम से स्तुति की।

भगवान महावीर पांचवे बालयति तीर्थंकर थे। इनके पूर्व वासुपूज्य भगवान, मल्लिनाथ भगवान, नेमिनाथ भगवान, पार्श्वनाथ भी बाल ब्रह्मचारी तीर्थंकर थे। इन्होंने स्वेच्छा से शादी नहीं रचायी। सकल विषय वासनाओं को जीतकर तीस वर्ष की वय में इन्होंने मंगसिर वदी 10 सोमवार 20 दिसम्बर सन् ईसवी सन् से 569 वर्ष पूर्व में दिगम्बर जिन दीक्षा ग्रहण की।

बारस वर्ष की कठोरतम मौन व्रत एवं संयम साधना व आत्म ध्यान के फल स्वरूप जृम्भिका ग्राम के समीप, ऋजुकूला नदी के किनारे मनोहर नामक वन में भगवान महावीर स्वामी को वैशाख सुदी 10 रविवार 26 अप्रैल ईसवी सन् से 537 वर्ष पूर्व को चार घातिया कर्मों को

क्षय कर केवलज्ञान को प्राप्त किया। योग्य श्रोता/ गणधर के अभाव में भगवान की दिव्यध्वनि 66 दिन तक नहीं खिरी। अर्थात् धर्मोपदेश नहीं हुआ। महावीर स्वामी का प्रथम धर्मोपदेश श्रावण कृष्णा 1, वीर शासन जयंती 1-1-1 को अथवा ईसवी सन् से 557 वर्ष पूर्व प्रारंभ हुआ था।

30 वर्ष तक भगवान महावीर स्वामी ने केवली अवस्था में अनेकों देशों में विहार कर धर्म का उपदेश भव्य जीवों को दिया। उनके समवशरण में अंसख्यात देव देवियां, लाखों मनुष्यों/श्रावकों व लाखों श्राविकाएं, हजारों दिगम्बर मुनि व हजारों साध्वीयां/आर्यिका माताएं थीं। प्राणी मात्र को कल्याण का उपदेश देने वाले भगवान महावीर स्वामी ने लगभग 72 वर्ष की उम्र में शेष चार अघातिया कर्मों को भी क्षय करके कार्तिक वदी 14 की रात्रि के अंतिम पहर या कार्तिक वदी अमावस्या के प्रातः काल मंगलवार 15 अक्टूबर ईसवी सन् से 527 वर्ष पूर्व को मोक्ष प्राप्त किया।

भगवान महावीर स्वामी द्वारा प्रतिपादित/प्रचारित सिद्धान्तों को मुख्य रूप से दो भागों में बांटा जा सकता है। प्रथम ज्ञेय सिद्धान्त, द्वितीय आचरणीय सिद्धान्त।

I. ज्ञेय सिद्धान्त

अर्थात् जानने योग्य सिद्धान्त। वस्तु तत्व को यथार्थ रूप से समझने के लिए जिनमत के रहस्य मयी सूत्रों को आत्मसात करने के लिए, आत्मा को परमात्मा बनाने की कला सीखने के लिए, विश्व के प्रत्येक प्राणी की मनोभावना व वाच्य सिद्धांतो को समझने के लिए भगवान महावीर स्वामी के ज्ञेय सिद्धान्तों को जानना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। उन ज्ञेय सिद्धान्तों को मुख्य रूप से दो भागों में बांटा जा सकता है-प्रथम अनेकान्तात्मक सिद्धान्त या अनेकान्तवाद, द्वितीय स्याद्वाद।

1. अनेकान्तवाद

प्रत्येक द्रव्य में अनन्त धर्म विद्यमान हैं या प्रत्येक द्रव्य में अनेक गुण, स्वभाव या लक्षण पाये जाते हैं। अनेकान्त का शब्दिक अर्थ है-अनेक है अंत जिसके, अर्थात् जिसमें अनन्त धर्म हैं। अनेकान्तात्मक दृष्टि से वस्तु तत्व को जानने वाला वाद ही अनेकान्त वाद है। यथा-राम एक होते हुए भी अनन्त धर्मा हैं, उनमें पितृत्व, पुत्रत्व, भ्रातृत्व, पतित्व, पौत्रत्व, प्रपौत्रत्व, पितामहत्व, प्रपितामहत्व, मानवता, जीवन्त, भव्यत्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व, भेदत्व, अभेदत्व इत्यादि धर्म हैं। इन परस्पर विरोधी सर्व धर्मों को बिना विरोध के जो ग्रहण करता है वही अनेकान्त वाद है।

2. स्याद्वाद

श्री महावीर प्रभु का वस्तु तत्व को जानने वाला दूसरा प्रमुख सिद्धान्त है-स्याद्वाद। यह शब्द दो शब्दों के मेल से बना है-पहला शब्द है-स्याद व दूसरा शब्द है-वाद। इनमें 'स्याद' का

अर्थ कथञ्चित् है तथा 'वाद' शब्द का अर्थ कथन, वचन, वक्तव्य है। स्याद्वाद का अर्थ हुआ कि कथञ्चित् किसी बात को स्वीकार करना। द्रव्य में विद्यमान अनंत धर्मों का कथन एक साथ संभव नहीं है तथा वे धर्म परस्पर विरोधी भी हो सकते हैं। इन विरोधी धर्मों को भी जो कथंचित् (किसी अपेक्षा से यह भी सत्य है) सत्य कहता है वही है स्याद्वाद। स्याद्वाद समस्त विवादों को निबटाने व वस्तु तत्व का यथार्थ बोध कराने वाला अनुपम हेतु है।

II. भगवान महावीर स्वामी द्वारा प्रतिपादित आचरणीय सिद्धान्त-

आचरण ही किसी धर्म की अंतर्चेतना हो सकती है, बिना आचरण के धर्म मुर्दा शरीर के बराबर है मुख्य रूप से भगवान महावीर स्वामी द्वारा उद्घोषित पांच सिद्धान्त सूत्र हैं। इनमें भी आत्म कल्याण व शांति का रहस्य छिपा हुआ है।

1. अंहिसा व्रत

मन, वचन, काय से किसी जीव को कष्ट नहीं पहुंचाना, न कष्ट देने हेतु किसी को प्रेरित करना, किसी हिंसा करने वाले की अनुमोदना न करना अहिंसा का स्थूल स्वरूप है। यथार्थता में तो किसी जीव के प्रति हिंसा के परिणाम भी न होना अथवा किसी भी पर पदार्थ के प्रति हिंसा के परिणाम भी न होना अथवा किसी पदार्थ के प्रति राग द्वेष का नहीं होना, अपनी आत्मा में लीन रहना ही परम अहिंसा है। इस अंहिसा की ही पूर्णता के लिए शेष चार सिद्धान्त रक्षा कवच की तरह हैं। यह अंहिसा ही जगज्जननी है, प्राणी मात्र का प्राणों से प्रिय धर्म है, यह आत्म-स्वभाव है, लक्षण है, धर्म है ,नियति है, चरम साध्य लक्ष्य है।

2. सत्य व्रत

मन, वचन, काय से सम्पूर्ण असत्य का त्याग करना, न वचन से असत्य बोलना, न शरीर से असद् चेष्टा करना और न ही मन में असद् विचार करना। असत्य के लिए प्रेरित करना तथा असत्यवादी असत्यार्थी असत्यासक्त की प्रशंसा नहीं करना, उसकी क्रिया की अनुमोदना नहीं करना, उसकी चेष्टाओं से सहमत नहीं होना ही सत्य व्रत है। पर भावों का सर्वथा त्याग कर निजात्मा में लीनता ही निश्चय से सत्य व्रत है।

3. अचौर्य व्रत

किसी की भूली हुई, पड़ी हुई, गिरी हुई, वस्तु को उस स्वामी की अनुमति के बिना ग्रहण करना या ग्रहण करने का भाव करना भी चोरी है, यह चोरी का स्थूल लक्षण है। सूक्ष्म रूप से; दूसरे के विचार, आशय, ज्ञान, यश, सुख, शांति छीनता भी चोरी है। जिस वस्तु का अधिकारी किसी और को होना चाहिए यदि आप उसके अधिकारी अवैध रूप से बन गये है तो वह भी चोरी है। निश्चयापेक्षा से तो पर पदार्थों का ग्रहण, आत्मा लीनता का अभाव चोरी है। स्वात्म लीनता ही निश्चय से अचौर्य व्रत है।

4. ब्रह्मचर्य व्रत

अपनी ब्रह्म स्वरूप आत्मा में लीन होना, किसी भी स्त्री के साथ काम सेवन, या इन्द्रिय विषय में प्रवृत्ति नहीं करना ही ब्रह्मचर्य व्रत है। यह व्यवहार ब्रह्मचर्य अणुव्रत है। स्त्री मात्र के साथ मैथुन का मन, वचन, काय से त्याग करना ब्रह्मचर्य व्रत है।

5. अपरिग्रह व्रत

चेतन व अचेतन के भेद से परिग्रह के दो भेद हैं। इसके भी अंतरंग व बहिरंग के भेद से दो भेद हैं। उनके क्रमशः 14 व 10 भेद है। समस्त परिग्रह का मन वचन, काय से त्याग करना अपरिग्रह व्रत है। मन, वचन, काय से, कृत कारित अनुमोदना से समस्त वाह्य पदार्थों का त्याग करना, अपनी आत्मा में ही लीन हो जाना निश्चय से अपरिग्रह व्रत है। व्यवहार अपेक्षा से सकल वाह्य परिग्रह का, यथा शक्य अंतरंग परिग्रह का त्याग करना अपरिग्रह व्रत है।

इन पांचों व्रतों का पालन श्रावक एक देश करता है क्योंकि वह गृहस्थ है, उसके व्रत देश व्रत या अणुव्रत कहे जाते हैं तथा साधक को इन व्रतों का सकल देश या सम्पूर्णतया पालन करना चाहिए इन व्रतों के बिना आत्म-कल्याण असंभव ही है। इन पांच व्रतों का पालन करने से हजारों नियमों व संविधान के पालन की आवश्यकता नहीं है। इन्हीं में सभी नियम, कानून, विधान व संविधान का पालन हो जाता है।

★★★★★★

तीर्थंकर भगवान श्री 1008 महावीर स्वामी जी का

जीवन परिचय

नाम	:	श्री महावीर स्वामी
माता का नाम	:	प्रियंकारिणी/त्रिशला
पिता का नाम	:	श्री सिद्धार्थ
चिन्ह	:	सिंह
आयु	:	72 वर्ष
अवगाहना	:	7 हाथ
गर्भ तिथि	:	आषाढ़ शु. 6
जन्म तिथि	:	चैत्र शु. 13
दीक्षा तिथि	:	मार्ग कृष्ण 10
केवलज्ञान तिथि	:	वै. शु. 10
निर्वाण तिथि	:	कार्तिक कृ. 15
यक्ष	:	गुह्हयक
यक्षिणी	:	सिद्धायिनी
वैराग्य का कारण	:	जातिस्मरण
दीक्षा वन	:	नाथ
दीक्षा वृक्ष	:	साल
सहदीक्षित	:	एकाकी
छदमस्थ काल	:	12 वर्ष
कुल गणधर	:	11
मुख्य गणधर	:	इन्द्रभूति
मुख्य श्रोता	:	श्रेणिक
मुख्य आर्यिका	:	चन्दना
प्रथम आहार दाता	:	चन्दना
सर्व ऋषि	:	14000
सर्व आर्यिका	:	36000/35000
श्रावक	:	1,00,000
श्राविका	:	3,00,000
केवली काल	:	30 वर्ष
तीर्थकाल	:	21042 वर्ष
वंश	:	नाथ
देवगति से पूर्व भव का नाम	:	नन्द/सुनन्द/नन्दन

प्राक्कथन.....

उपाध्याय मुनि निर्णय सागर

प्राचीन समय में यौधेय नाम का एक जनपद था। उसके अन्तर्गत राजपुर नगर में मारिदत्त नाम का राजा था, उसने भैरवाचार्य से आकाश गमन करने की अपनी अभिलाषा को व्यक्त किया। तब गृहीत मिथ्यात्व में लिप्त भैरवाचार्य ने राज मारिदत्त को चण्डमारि देवी के सामने समस्त पशुओं के युगलों की एवं नर युगलों की बलि देने को प्रेरित किया। सभी पशुओं युगल के साथ नर युगल की खोज की, उसी समय सुदत्ताचार्य का ससंघ मंगलागमन हुआ कोमलांगी सुकुमार बाल दीक्षित छुल्लक अभय रूचि व छुल्लिका अभयमती को चाण्डाल पकड़कर लाये। छुल्लक जी द्वारा छुल्लिका जी को सांत्वना व संबोधन दिया गया। चण्डमारि देवी व भैरवाचार्य का विकराल रूप देख बाल युगल का मन शंकित हुआ तभी मारिदत्त को उस युगल ने आशीर्वाद दिया राजा को उन्हें देखकर आश्चर्य भी हुआ तब राजा ने उस नर युगल से उनका परिचय पूछा उसके उत्तर में अभयरूचि छुल्लक जी ने राजा से युक्त समस्त सभाजनों को धर्मोपदेश/ निज कर्तव्य का सम्बोधन दिया।

इसी क्षेत्र में अवन्ति नामक देश है उसकी राजधानी उज्जयिनी शिप्रा नदी के किनारे स्थित है वहाँ यशौर्ध नाम का राजा राज्य करता था उसकी रानी चन्द्रमती थी उनके यहाँ यशोधर (मैं) नाम का पुत्र हुआ। अपने सिर पर एक सफेद बाल देखकर उन्होंने मुझे राज्य सौंप कर सन्यास ग्रहण कर लिया राज्याभिषेकोपरांत मेरे राज्य पट्ट बांधा गया तब मैं राज्यपद पर आसीन हो विधि पूर्वक अपने राज्य का संचालन करता था।

द्वितीय अध्याय–यशोधर राजा का (मेरा) विवाह अमृतमती नाम की गुण सम्पन्न राजकुमारी से हुआ; मैं उसमें संतुष्ट होता हुआ मनोविनोद के साथ ही राज्य के संचालन व विस्तार में संलग्न था, तभी एक दिन मैंने अपनी पत्नी अमृतमती की व्याभिचार प्रवृत्ति को देख लिया जिससे मुझे संसार शरीर भोगों से विरक्ति होने लगी। इसी समय राजा यशोधर गोपवती, वीरवती एवं रक्ता इन दुष्चारिणी स्त्रियों के चारित्र का स्मरण

करने लगे। उसी समय मैंने अपनी माता से कहा मुझे रात्रि में दुःस्वप्न आया है, इसलिए मैं प्रातःकाल जिन दीक्षा ले लूँगा। तब माता चन्द्रमती ने दुःस्वप्न की शांति के लिए शांति विधान वा मुर्गे की बलि के लिए बाध्य किया। मैंने जीव वध का त्याग कर दिया है, अतः पशु हिंसा या बलि नहीं दूँगा तब माँ ने कहा कि हम आटे का मुर्गा बनाकर उसकी बलि चढ़ायेंगे और उसी प्रसाद को ग्रहण करेंगे। राजा ने यह बात मान ली और साथ अपने पुत्र यशोमति के राज्याभिषेक की आज्ञा दी। यह समाचार जब रानी ने सुना तो वह भीतर से प्रसन्न हुई, किन्तु उपरी प्रेम दिखाती हुई, मुधरालाप कर रिझाने लगी और बोली प्राणनाथ! महाराज कृपा करके मुझे भी अपने साथ ले चलें। कुलटा रानी के हास परिहास से राजा को (मुझे) बहुत गहरी चोट लगी, पर उसने (मैंने) मन मसोस कर मंदिर में जाकर आटे के मुर्गे की बलि चढ़ाई। इससे उसकी चन्द्रमती तो प्रसन्न हुई किन्तु उसकी असती/व्यभिचारिणी अमृतमती रानी भयभीत हो सोचने लगी कि कहीं राजा का वैराग्य क्षणिक् हुआ तो मेरा कपट जाल कभी प्रकट भी हो सकता है। अतएव उसने आटे के मुर्गे में विष मिला दिया। आटे के मुर्गे की बलि के उपरान्त प्रसाद खाने से चन्द्रमती व यशोधर राजा (मैं) मृत्यु को प्राप्त हुये।

तृतीय अध्याय–राजमाता चन्द्रमती और राजा यशोधर (मैंने) आटे के मुर्गे की बलि का संकल्प करके जो पाप किया उसके फल स्वरूप तीन जन्मों तक उन्हें पशुयोनि में तिर्यंच अवस्था प्राप्त की। प्रथम बार में राजा यशोधर (मैं) मयूर बना, राजमाता चन्द्रमती कुत्ता बनी, दूसरे जन्म में हम दोनों उज्जयिनी की शिप्रा नदी में मछली के रूप में उत्पन्न हुए, तीसरे जन्म में राजा यशोधर (मैं) व राजमाता चन्द्रमती मुर्गे बने। जिन्हें (हम दोनों को) एक जल्लाद (चण्डाल) पकड़ कर उज्जयिनी जनपद में विद्यमान कामदेव के मन्दिर के उद्यान में होने वाले बसन्तोत्सव में कुक्कुट सर्प के युद्ध का तमाशा दिखाने ले गया। वहां पर उसे त्रिकाल पूज्य विश्व वन्दनीय दिगम्बर जैनाचार्य श्री सुदत्तश्री महाराज के दर्शन हुए। परम पूज्य सुदत्ताचार्य जी पूर्व में कलिंग देश के राजा थे। किन्तु किसी निमित्त को पाकर संसार शरीर भोगों से विरक्त होकर मुनिव्रतों को/ महाव्रतों अंगीकार कर लिया। उनका धर्मोपदेश सुनते ही उन दोनों मुर्गों को अपने पूर्व भवों का स्मरण हो आया। हिंसादि पांचों पापों से विरक्त हो उन दोनों

ने शांत परिणामों के साथ मरण कर; उसी राजा यशोधर की वंश/कुल परम्परा में जन्मे यशोमति राजा व रानी कुसुमावति के उदर से भाई बहिन के रूप में जन्म लिया और उनका क्रमशः अभयरुचि (राजा यशोधर) व अभयमती (राज माता चन्द्रमती) रखा गया। एक बार राजा यशोमति अपने परिवार के साथ उन्हीं परम पूज्य आचार्य प्रवर सुदत्त जी की चरण वन्दना करने गया। वहां परम आचार्य प्रवर का धर्मोपदेश सुनने के उपरान्त अपने पूर्वजों की परलोक गति के बारे में पूछा। इसके उत्तर में तब परम पूज्य आचार्य प्रवर ने कहा कि तुम्हारे पितामह यशोर्ध राजा स्वर्ग में इन्द्र का सुख भोग रहे हैं तथा तुम्हारी माता अमृतमती अब्रह्मसेवन/व्यभिचार सेवनादि पाप के फल से नरक में दुःख भोग रही है। तुम्हारे पिता यशोधर और दादी चन्द्रमती आटे के मुर्गे की बलि देने से क्रमशः मयूर व कुत्ता, मछली-मछली, मुर्गी-मुर्गा की पर्यायों में जन्म लेकर तुम्हारे ही पुत्र-पुत्री हुए हैं। उस वृतांत को हमें संसार के स्वरूप का ज्ञान हो गया। जातिस्मरण होते ही हम दोनों ने संसार शरीर व भोगों से वैराग्य धारण कर लिया। कहीं हम संसार वारिधि में न फंस जायें अतएव बाल्य अवस्था परम हितैषी आचार्य प्रवर श्री सुदत्ताचार्य जी के संघ में दीक्षा ग्रहण कर ली।

इतना कहकर अभयरुचि ने कहा-हे राजा मारिदत्त! वे अभयरुचि व अभयमति हम दोनों ही है। जो भाई बहिन है, अभी छुल्लक व छुल्लिका की अवस्था में साधना में संलग्न थे। परम पूज्य गुरुदेव धर्म दिवाकर श्री सुदत्ताचार्य जी आज इस नगर के बाहर उद्यान में संघ सहित विराजे हैं। उनके आदेश से ही हम दोनों यहां आहारार्थ आ रहे थे कि आपके चाण्डाल हमें पकड़ कर यहां लाये हैं।

चतुर्थ अध्याय-इस वृतांत को सुनकर राजा मारिदत्त को संसार शरीर व भोगों से परम वैराग्य हुआ और उन्होंने जिन दीक्षा ग्रहण कर ली तथा यशोमति राजा ने व कल्याण मित्र ने भी जिन दीक्षा को अंगीकार कर कठोर तप साधना की। समाधिपूर्वक मरण कर स्वर्ग को प्राप्त किया। अभयरुचि व अभयमती ने भी समाधि मरण कर स्वर्ग को प्राप्त किया। इसके उपरान्त ग्रन्थकार ने आचार्य सोमदेव के यशस्तिलक चम्पू की तरह ग्रन्थ में सम्यग्दर्शन व आठ अंगों का कथन किया है, साथ ही सम्यग्ज्ञान के 5 भेद 8 अंगों का विवेचन करते हुए श्रावक के पांच अणुव्रत व सात शीलव्रतों का सविस्तृत विवेचन किया। श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं व

बारह अनुप्रेक्षाओं को अत्यन्त रोचक तरीके से विधिवत् लिपिबद्ध किया। अंत में ग्रंथकार ने मूल कथा, संस्कृत छाया में भावार्थ सहित प्रतिपादित किया है।

यह ग्रन्थ प्रथमानुयोग लघुकाय अत्यंत महत्वपूर्ण ग्रंथ है। जो हिंसा से विरक्त कर अहिंसा की ओर प्रेरित करने वाला है। इसमें राजा यशोधर व राजमाता चन्द्रमति के आटे के मुर्गे में मुर्गे का संकल्प कर दी हुई बलि का फल तो बताया ही है साथ ही श्रावकाचार का भी अत्यन्त सरल, सुबोध एवं हृदय ग्राहक शैली में वर्णन किया है। जो आबाल वृद्धों के लिये अत्यन्त उपयोगी है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में सहयोगी ऐलक श्री विमुक्त सागर जी, छुल्लक श्री विशंक सागर जी महाराज व संघस्थ सभी त्यागी वृत्तीयों को समाधिरस्तु शुभाशीर्वाद तथा प्रकाशक निर्ग्रन्थ ग्रंथमाला व मुद्रक श्री अनिल कुमार जैन चन्द्रा कॉपी हाउस, आगरा तथा प्रूफ रीडिंग में या अन्य भी किसी प्रकार से जो सहयोगी रहे हों उन्हें वात्सल्यपूर्ण हार्दिक धर्म वृद्धि आशीर्वाद तथा अपने न्यायोपार्जित धन का सदुपयोग करने वाले सुधी श्रावकों को भी धर्मवृद्धि आशीर्वाद।

इस ग्रन्थ के सम्पादन में मुझ अल्पज्ञ छद्मस्थ श्रमण द्वारा जो भी त्रुटि रह गयी हों तो सकल संयमी, अभेद रत्नत्रयधारी, विज्ञजन पुरुषार्थ कर हमें अनुग्रहीत करेंगे। साथ ही सुधी पाठकगण हंसवत् गुणग्राही दृष्टि बनाते हुए ग्रंथ का आत्मकल्याण कर उद्देश्य को हृदय में धारण कर आद्योपांत स्वाध्याय कर आत्म हित के मार्ग में प्रवृत्त होंगे ऐसी हमारी आपके प्रति मंगल भावना है।

अलमति विस्तरेण

श्री शुभमति फाल्गुन सुदी
15 वी. नि. सं. 2528
अतिशय क्षेत्र तिजारा (राज.)

इसी भावना के साथ जिनचरणानुचरः
संयमानुरक्तः अल्पज्ञ श्रमणः
28/3/2002
तिजारा (राज.)

प्रस्तावना

"जसहर चरिउ"– यशोधर चरित्र, जैन प्रथमानुयोग का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसकी मूल रचना अपभ्रंश भाषा में हुई है। इस कथा का कथानक इतना रोचक है कि इसे प्रारम्भ कर बीच में छोड़ने को जी नहीं चाहता। यही कारण है कि इस पर श्री सोमदेव, वादिराज, सकलकीर्ति, वासवसेन, सोमकीर्ति, हरिभद्र, क्षमाकल्याण आदि अनेक दिगम्बर, श्वेताम्बर कवियों ने अपने–अपने ढँग से प्राकृत और संस्कृत में अपना–अपना रचना–चातुर्य प्रकाशित किया है। इस विषय में परम पूज्य आचार्य भगवन् श्री सोमदेव का "यशस्तिलकचम्पू" तो सर्वथा बेजोड़ ही है।

'अहिंसा' जैन सिद्धान्त का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है। इस ग्रन्थ के कथानक से भी यही सिद्ध किया गया है कि राजा यशोधर ने अपनी माता के उपदेश से प्रभावित होकर अम्बिकादेवी के लिये चूर्णनिर्मित मुर्गा का बलिदान किया था उसी पाप से उन्हें माता के साथ ही साथ सात भवों में अनेक दुःख सहन करने पड़े। उन दुःखों का वर्णन कवि ने जिस प्रकार किया है उसे पढ़कर पाठक का शरीर रोमाञ्चित हो उठता है और हृदय सहसा सिहर उठता है। इस बलिदान और श्राद्धतर्पण के विषय में स्वार्थी विप्रों द्वारा जो तात्कालिक जनता को प्रेरणा मिलती रही है उसी के फलस्वरूप उनके प्रति सहसा घृणा का भाव उद्‌भूत हो उठता है।

इस खण्डकाव्य के रचयिता कविवर्य श्री पुष्पदन्तजी हैं। ये काश्यपगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम केशवभट्ट और माता का नाम मुग्धादेवी था। इनके माता–पिता पहले शैव थे। परन्तु अन्त में दिगम्बर जैन गुरु के उपदेश से जैन हो गये थे। इनका नाम 'खण्ड' था। सम्भवतः उनका यह नाम बोलचाल का रहा होगा। महाराष्ट्र प्रान्त में अब भी 'खण्डूजी' 'खण्डोवा' आदि नाम अधिक मात्रा में रखे जाते हैं। अभिमान मेरू, 'अभिमान चिह्न, काव्यरत्नाकर, कविकुल–तिलक, सरस्वती निलय, कव्वपिशल्ल.....ये उनकी पदवियाँ

थीं। जिनका प्रयोग कवि ने अपने ग्रंथों में जहां तहां किया है। 'अभिमान मेरु' और अभिमान चिह्न' इन दो पदवियों से उनके स्वाभिमानी होने का पता चलता है और अन्य पदवियों से अनेक काव्य विषयक वैदुष्य का।

अभी ग० बा० तगारे एम० ए० बी० टी० नामक विद्वान ने श्री पुष्पदन्त को प्राचीन मराठी का महाकवि बतलाया है और उनकी रचनाओं से बहुत से ऐसे शब्द चुनकर बतलाये हैं जो प्राचीन मराठी से मिलते जुलते हैं अतः बहुत कुछ संभव है कि महाकवि पुष्पदन्त मराठी प्रधान प्रान्त के सम्भवतः विदर्भ (वरार) के मूल निवासी हों परन्तु उनका कार्यक्षेत्र 'मान्यखेट' नगर रहा है। निजाम राज्य का वर्तमान मलखेड़ कस्बा ही उस समय का मान्यखेट नगर है मान्यखेट आगे चलकर राष्ट्रकूट महाराजा कृष्ण तृतीय की राजधानी रही है और यहीं पर कविवर का उनके भरत मन्त्री से साक्षात्कार होता है। महामात्य भरत की प्रेरणा से कवि ने अपभ्रंश भाषा में महापुराण की रचना की थी। पुष्पदन्त ने अपने महापुराण में महामात्य भरत का बहुत परिचय दिया है और उनकी प्रशंसा में अनेक पद्य लिखे हैं।

अबतक इनके बनाये हुए तीन ग्रन्थों का पता चला है-

१–तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकारु (महापुराण), २– नायकुमार चरित्र और जसहर चरिउ। हर्ष है कि प्रथम ग्रन्थ माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई से और शेष दो ग्रन्थ कारंजा से प्रकाशित हो चुके हैं। तीनों ग्रन्थों का सम्पादन आधुनिक रीति से हुआ है। महापुराण में त्रेसठ शलाका के पुरूषों का चरित है, जिसके आदिपुराण और उत्तरपुराण के भेद से दो भेद हैं। नागकुमार चरित में पञ्चमी के उपवास का फल बतलाने वाला नागकुमार का चरित निबद्ध है और यशोधर चरित में राजा यशोधर का पूर्व भवावली के साथ सुन्दर चरित अंकित किया गया है।

यशोधर चरित में चार सन्धियाँ हैं। कविवर ने यह ग्रन्थ महामात्य भरत के पुत्र वल्लभ नरेन्द्र के गृहमन्त्री नन्न के लिये उन्हीं के महल

में रहते हुए लिखा था। यही कारण है कि कवि ने इसी के लिये प्रत्येक सन्धि के अन्त में 'णण्णकर्णाभरण' (नन्न के कानों का गहना) लिखा है।

इसकी दूसरी, तीसरी, और चौथी सन्धि के प्रारम्भ में नन्न के गुण कीर्तन करने वाले तीन पद्य हैं। इस ग्रन्थ की कुछ प्रतियों में गन्धर्व कवि के बनाये हुए कुछ क्षेपक भी शामिल हो गये हैं।

इतिहासज्ञ, वयोवृद्ध विद्वान् श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी ने अनेक प्रमाण देते हुए यह सिद्ध किया है कि शक संवत् ८८१ में पुष्पदन्त मेलपाटी में भरत महामात्य से मिले और उनके अतिथि हुए। इसी साल उन्होंने महापुराण शुरूकर उसे श० सं० ८८७ में समाप्त किया। उसके बाद उन्होंने नागकुमार चरिळ और यशोधर चरिळ बनाये।

यशोधर चरिळ की समाप्ति उस समय हुई जब मान्यखेट लुटा जा चुका था। यह शक संवत् ८९४ के लगभग की घटना है इस तरह वे ८८१ से लेकर कम से कम ८९४ श० सं० तक लगभग तेरह वर्ष मान्यखेट में महामात्य भरत और नन्न के सम्मानित अतिथि होकर रहे, यह निश्चित है। इसके बाद वे और कब तक जीवित रहे, यह नहीं कहा जा सकता।

यह ग्रन्थ स्वाध्याय करने योग्य है तथा शास्त्र सभा में सुनाने योग्य है अतः पाठकों से हम निवेदन करते हैं कि इसका आद्योपांत दो तीन बार पठन पाठन करें व इसका अजैन समाज में भी प्रचार करें क्योंकि इस ग्रन्थ में अहिंसा सिद्धान्त का अभूतपूर्व वर्णन कथा के रूप है।

यद्यपि यह प्रकाशन हिन्दी भाषा में हैं तो भी इसमें बारह भावनाओं का मूल प्राकृत गाथा, संस्कृत छाया व भावार्थ सहित दिया गया है जो स्वाध्याय–प्रेमियों को अधिक रुचिकर होगा।

यशोधर चरिळ का हिन्दी अनुवाद बहुत पहले प्रकाशित हुआ था जिसमें मूल ग्रन्थ की सिर्फ गाथा देकर बाकी अंश छोड़ दिया गया था। और उसका भावानुवाद ही पुरानी हिन्दी में दिया गया था। कुछ

समय से यह अनुवाद अप्राप्य हो गया था परन्तु उसकी मांग बनी हुई थी। यह प्रार्थना कुछ श्रावकों ने आचार्यश्री १०८ देशभूषणजी महाराज से की और महाराज श्री ने इस सर्दी के मौसम, अस्वस्थ शरीर के बावजूद भी समय निकालकर यह कार्य पूर्ण किया। जिसको श्रीमती प्रेमवती जी जैन ध०प० स्व० श्री मदनलाल जी कागजी ने स्वद्रव्य से प्रकाशित कराकर श्री जिनवाणी का प्रचार किया स्व० लाला मदनलाल जी बड़े धार्मिक स्वभाव के श्रावक थे और चारों दानों में अपनी चंचल लक्ष्मी का सदुपयोग करते थे उनकी धर्मपत्नी जी एवं उनके सुपुत्र भी पुण्य कार्य में सदैव तत्पर रहते हैं। मैं उनके परिवार को धन्यवाद देता हूँ। प्रस्तुत संस्करण बहुत शीघ्रता में प्रकाशित किया गया है अतः अशुद्धियाँ रह जाना स्वाभाविक है। आशा है पाठक क्षमा करेंगे।

ooo

यशोधर चरित्र

विषय सूची

1. अनुवादक व ग्रन्थकर्ता कृत मंगलाचरण 3
2. ग्रन्थ बनाने का सम्बन्ध 3
3. चौबीस तीर्थंकरों की जयमाल सार्थ 4

प्रथम परिच्छेद

4. यशोधर महाराज का पट्टबंध वर्णन 8
5. राजपुर नगर और राजा मारिदत्त का वर्णन 9
6. भैरवाचार्य का वर्णन 11
7. महाराज मारिदत्त की आकाशगमन की अभिलाषा 13
8. चंडमारी देवी का वर्णन 13
9. जलचर थलचर नभचर जीवों के जोड़े के बलिदान की आज्ञा 14
10. बलिदान के लिये मनुष्य युगल की मांग 17
11. सुदत्ताचार्य और क्षुल्लक युगल की प्राप्ति 17
12. क्षुल्लक का क्षुल्लकी को सम्बोधन 21
13. भैरावाचार्य और देवी का राक्षसी स्वरूप 22
14. महाराज का क्षुल्लक युगल को आशीर्वाद व आश्चर्य–सागर में 23-24
15. क्षुल्लकजी द्वारा महाराज को सम्बोधन 25
16. क्षुल्लक युगल परिचय व उज्जैन नगरी का वर्णन 26-27
17. महाराजा यशोर्घ, यशोधर का परिचय 29

द्वितीय परिच्छेद

18. यशोधर, चन्द्रमती पूर्वभव वर्णन 34
19. गोपवती व वीरवती का चरित्र 41-42
20. रक्ता रानीकी कथा 43
20. राजा यशोधरके वैराग्य का विस्तृत वर्णन 51

तृतीय परिच्छेद

21. यशोधर चन्द्रमती मनुज जन्म–लाभ विस्तृत वर्णन 73

चतुर्थ परिच्छेद

22. यशोमति, कल्याणमित्र, मारिदत्त व अभयरुचि स्वर्गगमन 120

23. सम्यक्त्व के आठ अंगों का वर्णन 132

24. सम्यग्ज्ञान का स्वरूप 134

25. पाँच अणुव्रतों का स्वरूप 136

26. तीन गुणव्रतों का स्वरूप 138

27. भोगोपभोगपरिमाण व्रत का स्वरूप 141

28. चार शिक्षाव्रतों का स्वरूप 143

29. ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप 147

30. बारह अनुप्रेक्षा ओंका (भावना) स्वरूप मूल गाथा संस्कृत छाया व भावार्थ सहित 151

31. क्षुल्लक महाराज द्वारा महाराजा मारिदत्त आदि का संवाद व दीक्षा ग्रहण का विस्तृत वर्णन 203

ooo

आभार

.....जन-जन के कल्याण में समर्थ पूज्य आचार्य भगवंतो द्वारा सृजित महान ग्रंथों जिनमें श्रुत विद्या का असीम दिग्दर्शन होता है ऐसे सत् साहित्य के संरक्षण एवं संवर्धन में आपके द्वारा समर्पित अमूल्य योगदान का निर्ग्रन्थ ग्रंथमाला *हार्दिक अभिनन्दन करती है।*

निर्ग्रन्थ ग्रन्थमाला

पुण्यार्जक श्रावक

श्रीमती आभा जैन

धर्मपत्नि श्री रमेश चन्द जैन

रमेश हैण्डलूम फैक्ट्री

630, तिलक रोड, मेरठ

फोनः-663223, 524504

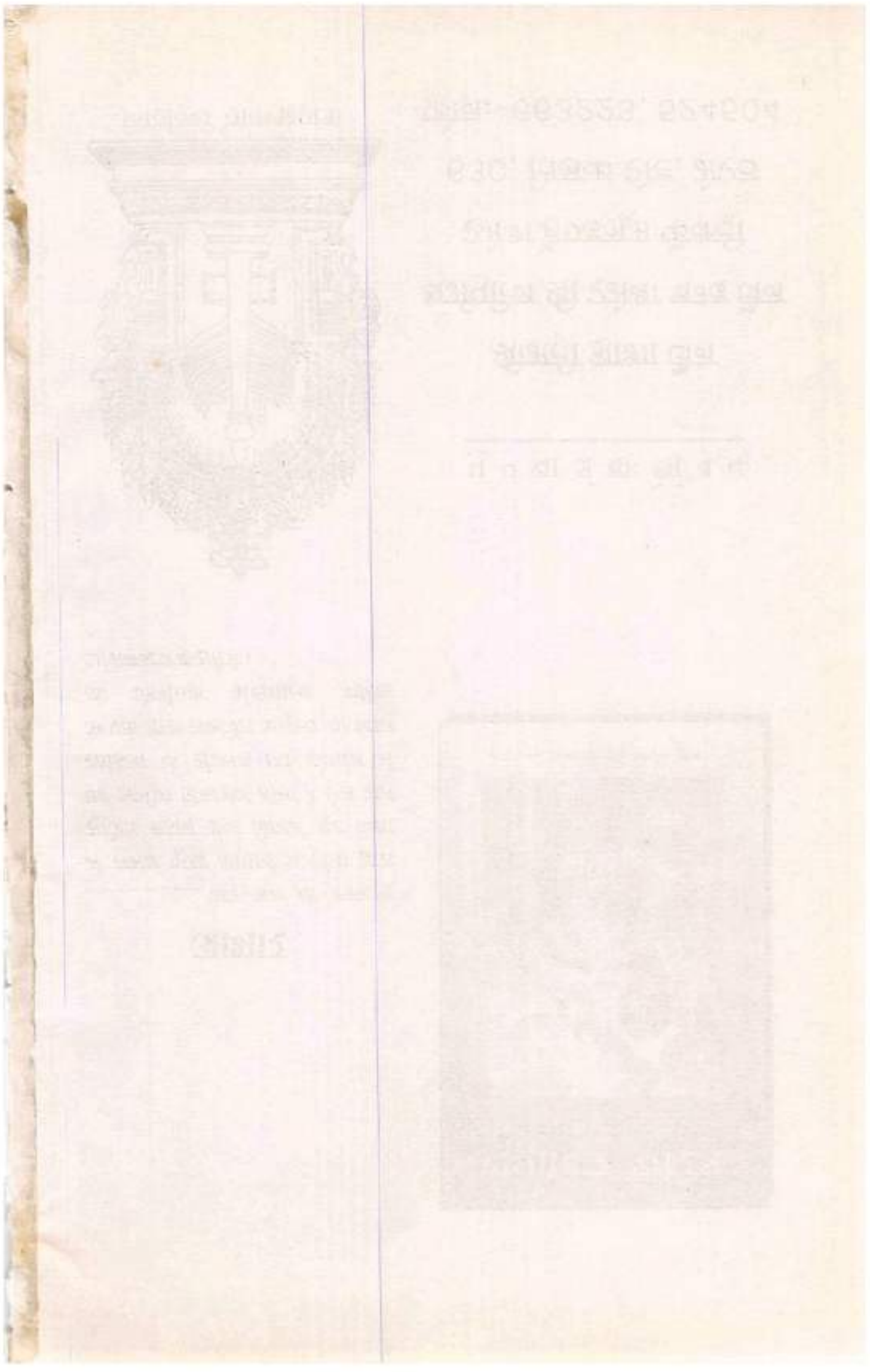

।।श्री जिनाय नमः।।

श्री यशोधर-चरित्र

(अनुवादक कृत मंगलाचरण)

छप्पय

प्रणमि संत अरिहंत कंत शिवनंत गुणाकर।
समिकवंत वरषंत अमीवृष हंत दुखाकर।।
करम अंतकरि सुख लहंत भगवंत त्रिलोकी।
इन्द्र वृंद सेवंत मंत तुम पाद बिलोकी।।
सुरनर मुनीन्द्र नित रटतवर, चरणयुगल मम हिय बसो।
आनंद कंद मंगल सुकर, नमो नमो कर जोड़िकर।।१।।

सवैया तेईसा

सिद्ध नमो त्रियमुक्ति रमों सुकुबुद्धि बमों अविरुद्ध सदाहीं।
लोक अलोक पदारथ जे अविलोक ते समये इक माहीं।।
कर्म के सूल किये निरमूल भये भरपूर सुधातम साहीं।
अक्षयनंत अखंड निशंक स्वयं निकलंक सुखामृत पाहीं।।२।।

नाराच छन्द

नमामि पर्मसूर को, उड़ाय कर्मधूर को, बताय शर्म मूर को सुभाव पोत धारिके। रखें न ग्रन्थ पास ते, द्विधर्म को प्रकाशते भौसुक्खते उदासते, कषाय योग टारिके।। त्रिरत्न हार भूषितं हितेश बचपियूषितं, न राग है न दूषितं, कुध्यान को निवारिके। सु मुक्ति पथ साधते, न जीव को बिराधते, निजात्मा अराधते, स्वतत्व को विचार के।।३।।

चौपाई

नमो सर्व उत्तम उवझाया। पाठन पठन सकल गुणदाया।
पंडित द्वादशांग भर पूरे। हित उपदेश करन को सूरे।।४।।
पंचबीस गुणगण के धारी। पर उपकार करैं जग तारी।
परम धर्म दर्शावन हारे। विकथ बितथ व्याहार न धारे।।५।।

दोहा

सकल साधु प्रणमों सदा, बनवासी तप सूर।
पंच महाव्रत पालते, सहैं परीषह भूर।।६।।
पंच समिति त्रय गुप्ति को, पालें मन वच काय।
मूल अठाइस गुण धरैं, शत्रु मित्र सम भाय।।७।।
इह विध मंगल चरण कर, मंगल हो निरबाध।
करों यशोधर चरित का, हर्ष पूर्व अनुवाद।।८।।

श्री ग्रन्थकर्ता पुष्पदंत कवि कृत मंगलाचरण

प्राकृत

तिहुवणसिरिकंतहो अइसयवंतहो अरहंतहो हयकम्महहो।
पणमामि परमेट्ठिहि पविमलदिट्ठिहि चरणजुयल णयसयमहहो।।

संस्कृत छाया

त्रिभुवनश्रीकांतस्य अतिशयवन्तः अर्हतः हतकामस्य।
प्रणम्य परमेष्ठिनः चरणयुगलम् प्रविमलदृष्टेः नतशतमखस्य।।

भावार्थः- जो तीनलोक की लक्ष्मी का कंत, चौंतीस अतिशय युक्त, काम विमुक्त, उज्ज्वल क्षायिकदर्शन सहित और शत इंद्रोंकर नमस्कार करने योग्य उस श्री अरिहंत परमेष्ठी के चरण–युगल को नमस्कार कर मैं पुष्पदंत कवि यशोधर महाराज के चरित्र का प्रति पादन करूंगा। इसप्रकार विघ्न निवारणार्थ मंगलपूर्वक अरिहन्त भगवान का उपकार स्मरण कर पुष्पदन्त कवि ने नमस्कारात्मक मंगल का प्रतिपादन किया।

ग्रन्थ बनाने का सम्बन्ध

कौंडिन्य गौत्र रूप आकाश में उद्योत करनेवाले दिवाकर तुल्य ऐसे वल्लभ नामक महाराजा जिनका द्वितीय नाम कृष्ण महाराज तिनके भरत नामक मन्त्री के पुत्र नन्ह के मन्दिर में निवास करतें–मेरू पुष्पदन्त कवि ऐसा विचार करते हुए कि जो खोटे मार्ग के प्रकाशक स्त्री आदि कुकथाओं सहित शास्त्रों से पूर्ण न हो, किन्तु धर्मवर्धिनी कोई ऐसी कथा का आरम्भ करूँ जिसके द्वारा श्रोता और वक्ता एवं दोनों को शीघ्रतर मोक्ष प्राप्त हो।

पांच भरत, पांच ऐरावत और पांच विदेह एवं पंद्रह क्षेत्रों की धारा दया की माता और कृपा की सखी है; उनमें धर्म उत्पन्न होता है तथा उपर्युक्त पंचदश क्षेत्रों में पांच विदेह तो स्थिर धर्म हैं अर्थात्

विदेह क्षेत्रों में शास्वती धर्म रीति प्रचलित रहती है, किन्तु पांच भरत और पांच ऐरावत एवं दश क्षेत्रों में धर्म की न्यूनाधिकता रहती है अर्थात् कालंचक्र के परिवर्तन से धर्मका प्रकाश और व्युच्छेद होता रहता है।

इस जम्बूदीप के भरतक्षेत्र में प्रथम ही धर्म के प्रकाशक वृषभ की ध्वजा के धारक चार प्रकार के देवेन्द्रों को हर्षित करने वाले श्री वृषभदेव पुरुदेवस्वामी महाराजाधिराज हुए।

उन्होंने जैसा धर्म का स्वरूप प्रतिपादन किया, उसी प्रकार शेष तेबीस तीर्थंकरों ने भी किया, उन्हीं के कथनानुसार मैं भी जीवों को हितकारिणी, संसारतारिणी, मिथ्याधर्म विनाशिनी और सत्य धर्म प्रकाशिनी कथा का आरम्भ करूँगा। इस कारण उपर्युक्त चतुर्विंशति तीर्थंकरों की गुणमाला निज हृदय में धारण करता हूँ। जिससे समस्त विघ्नों की शांति और मनोभिलषित कार्य की सिद्धि हो।

चतुर्विंशति तीर्थंकर जयमाला

वत्ताणुट्ठाणे जणघणदाणे पइं पोसिउ तुहुं खत्त धरु।
तुहु चरण विहाणें केवलणाणें तुहु परमप्पउ परम परु।।१।।
जय रिसह रिसीसर णविय पाय, जय अजिय जियंगमरोसराय।
जय संभवसंभवकय विओय, जय अहिणंदणणंदियपओय।।२।।
जय सुमइसुमइसम्मयपयास, जय पउमप्पह पउमाणिवास।
जय जयहि सुपास सुपासगत्त, जय चंदप्पह चंदाहबत्त।।३।।
जय पुप्फयंत दंतंतरंग, जय सीयल सीयलवयणभंग।
जय सेयसेयकिरणोहसुज्ज, जय वासुपुज्ज पूज्जाणपुज्ज।।४।।
जय विमल २ गुणसेढिठाण, जय जयहि अणंताणंतणाण।
जय धम्म धम्मतित्थयर संत, जय संतिसन्ति विहियायवत्त।।५।।
जय कुंथुकुंथुपहु अंगिसदय, जय अर अर माहर विहियसमय।
जय मल्लिमल्लिआदाम गंध, जय मुणिसुब्वयसुब्वयणिबंध।।६।।

जय णमिणमियामरणियरसामि, जय णेमि धम्मरहचक्कणेमि।
जय पासपासछिंदणकिवाण, जय वद्ढमाणजसवद्ढमाण।।७।।

घत्ता

इह जाणियणामहि, दुरियविरामहि, परहिवि णवियसुरावलिहिं।
अणहणहि अणाइहि, समियकुवाइहि, पणविवि अरहन्तावलिहिं।।

मूलार्थ

भोस्वामिन् ! आपने छत्र धारण कर असि, मषि, कृषि, वाणिज्य और धन के दान से प्रजा जनों का पोषण किया। तथा तपश्चरण के विधान से केवलज्ञान प्राप्तकर गणधरादिकों कर पूज्य उत्कृष्टपद धारण किया।

हे ऋषीश्वरोंकरनमस्कारयोग्यचरण श्रीऋषभदेव !

जयवंत होऊ।

हे रागद्वेष और काम के विजेता श्रीअजितजिनेश्वर !

जयवंत होऊ।

हे सांसारिक जन्म मरणादिक नष्ट, कर्त्ता श्रीसंभव तीर्थेश्वर !

जयवंत होऊ।

हे प्रजासमूहको आनंदित करनेवाले श्रीअभिनंदन स्वामिन् !

जयवंत होऊ।

हे निजसुमितसे उत्तम मतके प्रकाशक श्री सुमतिनाथ तीर्थेश्वर !

जयवंत होऊ।

हे लक्ष्मी के निवास श्री पाप्रभ तीर्थेश्वर !

जयवंत होऊ।

हे सुन्दर पसवारों सहित गात्र के धारक श्री सुपार्श्वनाथ स्वामिन् !

जयवंत होऊ।

हे अन्तरंग शत्रुओं के दमन करने वाले श्री अष्टम तीर्थेश्वर श्रीचन्द्रप्रभ जिन ! जयवंत होऊ।

हे कुन्दके पुष्पसमान दांतों के धारक श्री पुष्पदन्त तीर्थेश्वर ! जयवंत होऊ।

हे शीतलवचनभंग के प्रकाशक श्री शीतलनाथ तीर्थेश्वर ! जयवंत होऊ।

हे कल्याणरूप किरणों कर युक्त सूर्यसमान श्री श्रेयांसनाथ ! जयवंत होऊ।

हे पूज्य पुरुषोंकर पूज्य श्री वासुपूज्य तीर्थेश्वर ! जयवंत होऊ।

हे निर्मल गुणों की पंक्ति के स्थानक श्री विमल जिनेश्वर ! जयवंत होऊ।

हे अनंतानंत ज्ञान के धारक श्रीअनंतनाथ तीर्थंकर ! जयवंत होऊ।

हे धर्म तीर्थ के कर्ता और शांति चित्त के धारक श्री कुन्थुजिनेश्वर ! जयवंत होऊ।

हे शांति विधायक आत पत्र के धारक श्री शांतिजिनेश्वर ! जयवंत होऊ।

हे कुन्थु आदि प्राणियों में दया के धारक श्री कुन्थुजिनेश्वर ! जयवंत होऊ।

हे दारिद्र्यनाशक, समय के रचयिता श्री अरहनाथ तीर्थंकर ! जयवंत होऊ।

हे मालती के पुष्पसमान सुगन्ध के धारक श्री मल्लिनाथ जिनेश्वर जयवंत होऊ।

हे सुन्दर व्रत के धारक श्री मुनिसुव्रत जिनेश्वर ! जयवंत होऊ।

हे देवेन्द्रों कर नमस्कार योग्य श्रीनमि जिनेश्वर !

जयवंत होऊ।

हे धर्मरूपरथ के चक्र की धुरा श्रीनेमिनाथ भगवान् !

जयवंत होऊ।

हे संसारपाश के छेदने को कृपाण श्रीपार्श्वनाथ जिनेश्वर !

जयवंत होऊ।

हे वृद्धिंगत यश के धारक श्री वर्द्धमान जिनराज !

जयवंत होऊ।

इस प्रकार पापों के नाशक, उत्तम देवों की पंक्तिकर नमस्कार योग्य, आदि अन्त रहित और कुवादियों को दमन करने वाले श्री अरिहंतों के समूह को नमस्कार कर श्री यशोधर महाराज के चरित्र का प्रारम्भ करता हूँ :–

प्रथम परिच्छेद

यशोधर महाराज्य पट्टबंध वर्णन

जो अनेक द्वीप और समुद्रों कर वेष्टित और अनेक संपदाओं का स्थान ऐसे जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र में यौधेय नामक देश है। वह देश धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष एवं चारों पुरुषार्थों के उपकरण, जिन मन्दिर जिनबिंब आदि की उत्पत्ति का स्थान है। वह देश प्रशस्त समस्त पृथ्वीवलय का आभरण सदृश और सम्पदा का मन्दिर है जिस देश में जलों के निपात पक्षियों के विलास युक्त अत्यन्त शोभनीय ऐसे दृष्टिगत होते हैं मानों भृकुटी के विभ्रमयुक्त कामिनियों के समूह ही हैं।

जिस देश में कुकवियों की भांति भ्रमरों के समूह भ्रमण करते हैं क्योंकि कुकवियों का हृदय भी श्याम है और भ्रमर भी श्याम हैं। जिस देश में नेत्र सदृश सचिक्कण तृणों के समूह और पुष्प–फलों सहित मनोहर वनोपवन ऐसे शोभमान हो रहे हैं मानों पृथ्वीरूप कामिनी के नवीन यौवन ही हैं। जिन उपवनों में गोपालों पर आस्वादित, मिष्ट और स्वादिष्ट फल ऐसे दृष्टिगत होते हैं मानों पुण्यरूप वृक्ष के मिष्टफल ही हैं। जिस यौधेय देश में सुन्दर रोमावली, दुग्धपूर्ण स्तन, उन्नत गंडस्थल और गलित कपोलों युक्त गाय महिष और बैलों के समूह विचरते हैं। जिस देश में रस पूर्ण पौड़ा साटेनि (इक्षु) के वृक्ष पवन से कंपित होते कैसे दृष्टिगत होते हैं मानों नृत्य ही कर रहे हैं।

जिस देश में सुपक्वशालि के खेतों में शुक आदि पक्षियों के मनोहर शब्द और किसानों की पुत्रियों के रमणीक गान सुनकर पथिकजन ऐसे मोहित हो जाते हैं कि आगे गमन नहीं कर सकते। इत्यादि, उस देश की शोभा का कहाँ तक वर्णन करैं। विधाता ने स्वर्गलोक से ईर्ष्या कर मानों द्वितीय स्वर्गलोक निर्मित किया है, कि जिस देश में धनधान्य, वन, वापिका, हर्म्य पंक्ति आदि से सुशोभित मनोहर ग्राम नगरादि हो रहे हैं।

राजपुरनगर और राजा मारिदत्त का वर्णन

उपरोक्त यौधेय नामक देश में श्रेष्ठ और रत्नों कर व्याप्त अति मनोहर राजपुर नामक नगर में पवन से हालती और नभस्थल से मिलती ध्वजाओं की पंक्ति कैसी सुन्दर भासती हैं मानों निज भुजाओं से स्वर्ग को स्पर्शती हैं।

वह राजपुर नगर ! सरस और मनोहर उपवनों कर आच्छादित ऐसा ज्ञात होता है मानों काम के सायकों से बीधित ही हो रहा हो। जिस नगर में देवालयों में तिष्ठते कपोत युगल मनोहर शब्द करते ऐसे भासते हैं मानों भव्य जीवों को बुलाते ही हों। जहाँ मदलिप्त कपोल गजों के मद झरने से राजमार्ग में पंक हैं।

जिस नगर में सरोवरों के तीर बास करते हँस समूह, जल के अर्थ गमन करती प्रोषिता नायिकाओं के नूपुरों का शब्द श्रवण कर उनके पीछे पंक्तिबद्ध गमन करते कैसे दृष्टिगत होते हैं मानों कामिनियों के पूर्ण घटों से पड़ती शुभ्र जल की धारा ही है अथवा उन स्त्रियों का यश ही उनके पश्चात् भाग में गमन करता हो। वह राजपुर भूमिपाल की भुजा का खड्ग और खातिका के जल से अन्य शत्रुओं को दुर्गम है।

वह नगर शुभ्र कोट से वेष्टित कैसा शोभता है मानो नृपति यश से व्याप्त ही है अथवा जगत के सौभाग्य का पुंज एकत्रित होकर नगर बाह्य तिष्ठा हुआ है। जिस कोट के चार द्वार मरकत मणिकी बन्दनमालाओं कर शोभित कैसे दृष्टिगत होते हैं मानो चार मुख ही हैं। जिस राजपुर नगर में सर्व स्थान अति धवल मंगलीक शब्दों की गुंजार हो रही है जहाँ दो, तीन, चार, पांच, सात खन के मंदिर नवीन कुमकुम के रस की छटा से अरूण हो रहें हैं, जिस पुर के राजमार्ग में बिखरे हुए मोतियों के कणों पर गमन करते जाते हैं। जहाँ लक्ष्मीवान रूपवान ध र्मनिष्ठ विजय दुदंभि नाद हो रहा है। उस राजपुर नगर में 'मारिदत्त' नामक नृपति राज्य करता था।

वह मारिदत्त नृप कोपाग्नि में दग्ध होते परमंडल के राजाओं की मानशिखा का खण्डन करता था। जिस नृपति के निधि तो घटधारिणी (पनहारी) समान और लक्ष्मी आज्ञा–कारिणी (गृहदासी) सदृश विचरती थी।

वह मारिदत्त नृपति दान देने में कर्ण सदृश, विभवकर इन्द्र तुल्य, रूपकर कामदेव, कांतिकर चन्द्रमा, प्रचंड दंड देने में यमराज और अन्य राजाओं के बल रूप वृक्षों के उखाड़ने को प्रबल पवन समान था। जिसकी हाथी की सूंढ़ समान लंबमान भुजा, विमुख राजाओं को दाह उत्पन्न करने वाला सूर्यकांति सदृश मुखमंडल, भ्रमरों के समूह तुल्य श्याम केशावली, कपाट तुल्य विपुल वक्षस्थल, तीन शक्तियों के पालन में समर्थ दीर्घ नेत्र, लक्षण और व्यंजनों कर चिह्नित उत्तम गात्र और मेघ समान गंभीर शब्द था।

वह भूमिपाल धन और धान्य रक्षण में दक्ष चातुर्य का भण्डार, तेज पुंज दिवाकर और प्रसन्न वदन था परन्तु धर्म शरण में अनभिज्ञ था। जिस मारिदत्त के परिकर में वृद्ध मनुष्यों का यश मात्र अवशेष था अर्थात् वृद्ध पुरूष परलोकवासी हो जाने से उनका यश मात्र शेष था, और तरुणपुरुष गर्वयुक्त थे किन्तु समान वयस्क भट्ट योद्धा अमात्य आदि मंडल सहित क्रीड़ा करता था तथा जिसके यौवनमद और लक्ष्मी के मद की प्रबलता थी परन्तु वहाँ एक धर्म विना प्रचुर अंधकार का प्रसार रहता था, सो सत्य ही है कि ज्ञान के उदय बिना सार भूत शुभ मार्ग का अवलोकन किसप्रकार हो सकता है ?

वह मारिदत्त, किसी समय तीव्र खुर और प्रचंड वेगयुक्त अश्वपर आरूढ़ होकर धरातल को प्रकंपित और विषम व्रण युक्त करता वायु सेवनार्थ गमन करता था। कभी २ मदलिप्त कपोल हस्तियों पर आरूढ़ होकर उच्छलित चित्तसे अनेक भंग युक्त वनों में विहार करता था। किसी समय कामनीय कामनियों के पयोधरों में दत्तचित्त होकर वनोपवनों में नवपल्लव युक्त वल्लरी के मंडपों में

रमण करता था। कभी कभी बधिकों (शिकारियों) सहित अरण्य प्रति जाकर मृगादि पशुओं के मार्ग की प्रतीक्षा करता था। कभी कभी एकांत स्थान में स्वयं ताल बजाता और गान करता हुआ वनिताओं का नृत्य देखता था, परन्तु राज्य कार्य में अनभिज्ञ और धर्म से परान्मुख था सो सत्य ही है कि उत्तम ज्ञाताओं के संसर्ग विना धर्म की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है।

भैरवाचार्य का वर्णन

मन्त्री और महत्तरों कर पूर्ण राज्य करते और प्रजाजनों का प्रतिपालन करते, महाराज मारिदत्त के धन और धान्य से पूर्ण राज्य पुर नामक नगर में कापालिकाचार्य (भैरवाचार्य) प्राप्त हुए।

वह भैरव का नाम आचार्य जगत को भयानक, झूठ की राशि, समस्त अभक्ष्यका भक्षक, राजपुर नगर में भ्रमण करता अनुकूल पुरुषों को निजमार्ग (मत) की शिक्षा देता था। वह कपटवेषी रमणीक वर्ण का टोपा दिये गृहस्थों के गृहों में हुंकार शब्द करता भिक्षाटन करता था। वह भैरवाचार्य कानों में मुद्रा धारण किये बत्तीस अंगुल प्रमाण दंड हाथ से उछालता, गले में योग वृत्ति, पगों में पावड़ी धारण करता, नृसिंगाका तड़ तड़ शब्द करता, सिंहपुच्छ का गुच्छा लगाये मुंहचंग और आपको महात्मा प्रकट करता, लोगों को बिना पूछे ही अपनी स्तुति करता इस प्रकार कहता था कि–

मेरे आगे चार युग व्यतीत हो जाने पर भी मैं वृद्ध नहीं हुआ, किन्तु नल, नहुष, वेणु आदि महाप्रतापी और पृथ्वी के भोक्ता महाराजा मेरे सामने हुए, राम और रावण के घोर संग्राम में राक्षसों का पतन मैने देखा, बंधुवर्ग सहित युधिष्ठिर को देखा, और कृष्ण की आज्ञा से विमुख मानी दुर्योधन का भी अवलोकन किया। मैं चार युगों से जीवित हूँ। इसमें तुम लोग किंचित् भी भ्रम मत करो। मैं समस्त लोगों को शांति करूंगा मुझमें इतनी सामर्थ्य है कि अति प्रचंड वेगयुक्त दिवाकर के विमान का अवरोध कर सकता हूँ, चन्द्रमा की छाया को रोकता हूँ, मुझे

समस्त विद्या स्फुरायमान हैं किन्तु यंत्र मंत्र और तंत्र तो मेरे आगे आगे गमन करते हैं इत्यादि वार्ता करता लोगों को रंजित करता नगर में भ्रमण करता था।

पश्चात् उसकी वार्ता समस्त नगर में फैल जाने से महाराज मारिदत्त के भी कर्णगोचर हुई। उस समय अति कौतुक युक्त होते हुए महाराज ने अमात्य मन्त्री से कहा कि आप एकांत में उस गुण गरिष्ठ भैरवाचार्य के निकट जाकर नम्रतापूर्वक उसे यहाँ लेआओ।

मन्त्री—महाराज की आज्ञानुसार जाकर मैं अभी उसे लेकर आता हूँ। इस प्रकार मन्त्री ने विनय पूर्वक राजा का आदेश सुनाकर भैरवाचार्य कहा कि अहो महात्मन् ! आपके दर्शन से महाराज के शीघ्रतर शांति हो।

भैरवाचार्य—यदि नृपति की ऐसी ही इच्छा है तो मैं शीघ्र गमन कर राज्य में शांति स्थापन करूंगा। ऐसा कहकर मन्त्री के साथ राजदरबार में उपस्थित हुआ। वहां तेजपुंज नारायण तुल्य महाराज को सिंहासनासीन देखा। पश्चात् भूपाल ने भी अनेक आडंबर युक्त भैरवानंद को देख सिंहासन से उठकर सन्मुख जाकर भूमि से मस्तक लगाकर दंडवत् किया।

भैरवाचार्य—महाराज का कल्याण हो, इत्यादि आशीर्वाद देकर पुनः भैरवाचार्य ने कहा—राजन् ! मैं साक्षात भैरव हूँ, तेरी जो अभिलाषा हो उसे प्रगट कर, मैं उसे पूर्ण करूंगा। इस प्रकार श्रवण कर महाराज ने प्रसन्न—चित्त होकर भैरावानंद को उच्चासन पर स्थापन कर आप उनके चरणों में पड़कर विज्ञप्ति करने लगे॥

महाराज—स्वामिन् ! मुझ मारिदत्त की शल्य हरो, नाथ ! आप सृष्टि—संहारक योगीश्वर हो, किन्तु कुल मार्ग के पथिक सतत चिरंजीव हैं। महाराज, आपके चरणों के प्रसाद से मेरे मनोभिलषित कार्य की सिद्धि होगी, आप मुझपर प्रसन्नचित हो, मैं आपका सेवक हूँ, आप जो आज्ञा प्रदान करेंगे उसे शिरोधारण कर पूर्ण करूंगा।

(भैरावाचार्य मन ही मन विचारने लगा)

यह दुष्ट योगी मन में संतुष्ट होता हुआ विचारने लगा कि जो–जो उपदेश करूँगा वही मेरे इंन्द्रिय सुख पूर्ण होंगे और मैं् जो आदेश करूंगा वही भक्षण करूँगा।

भैरवाचार्य- नृपवर ! मुझे समस्त ऋद्धिया लक्ष्य मात्रा में स्फुरायमान होती हैं। मुझे सफल विद्या सिद्ध है, मैं संहार करने में पूर्ण समर्थ हूँ, जो कोई मुझसे महान पदार्थ की याचना करता है उसे तत्काल देता हूँ, मेरे निकट कोई पदार्थ अलभ्य नहीं। इस प्रकार योगी की वार्ता सुनकर मारिदत्त महाराज कहने लगे–

मारिदत्त राजा की आकाश गमन की अभिलाषा

राजा- देवदेव ! गगनपथ से गमन करने की मेरी अभिलाषा है।

भैरवाचार्य- नृपवर ! तू राज कुलरूप कुमोदनी के प्रकाशने को चन्द्रमा है। तू दुर्निवार शत्रुओं में अकारण व्याख्यान दाता है। यदि निर्विकल्प चित्त से मेरा उपदेश ग्रहण करेगा तो अवश्य तुझे आकाश मार्ग में गमन कराऊँगा।

यह सत्य ही है कि जो गृहीत मिथ्यात्व से लिप्त होता है वह ज्ञानीजनों के उपदेश को ग्रहण नहीं करता। जैसे अन्ध पुरुष सुमार्ग कुमार्ग का अवलोकन नहीं करता, जैसे अंकुश की प्रेरणा से हाथी की सूँड सब ओर गमन करती है, उसी प्रकार भैरवाचार्य की प्रेरणा से मारिदत्त का चित्त जीवों की हिंसा में तत्पर हो, सर्व ओर भ्रमण करने लगा। यद्यपि मारिदत्त भव्य है परन्तु अशुभोदय से कुसंगति के योग से कुमार्ग प्रति गमन करने लगा।

चंडमारी देवी का वर्णन

अब कविकुलतिलक और सरस्वती के आलय श्री पुष्पदंत कवि देवी के स्वरूप का वर्णन करते हैं–

वह मारिदत्त नृपके प्रचंड शत्रुओं की विध्वंसकारिणी चंडमारी नामकी कुल देवता वेताल काल (संध्या समय) मांसका अवलोकन करती राजपुर नामक नगर की दक्षिण दिशा स्थित आवास में निवास करती थी। जिस चंडमारी देवी का लंबमान नरमुंडमाला उरस्थल, बालचंदसदृश मुख, विकराल डाढ़, सर्पिणी के बंधन युक्त दीर्घ और लंबमान स्तन युगल, निःसरती अग्नि की ज्वाला सहित तृतीय नेत्र, लंबमान, रक्त से आरक्त ललित जिह्वा, बसा (चर्बी) की कर्दम से चर्चित कपोल भुजंगनी विनिर्मित कटिसूत्र से व्याप्त कटिभाग, सर्पाच्छादित चरण युगल, श्मशान की धूलि से धूसरित काय, मांस रहित भयंकर अस्थि चर्म, मयूर शिखा समान कठोर और उन्नत केशावली, मृतकों की अंत्रावली कर विभूषित भुजा, इत्यादि महाबीभत्स रूप की धारने वाली चंडमारी देवी जीवों को त्रासित करती हुई जिनेन्द्र मार्ग का तिरस्कार करती थी।

वह देवी हिंसा मार्ग को प्रगट करती, दया धर्म दूर भगाती, नग्न शरीर, मांस के ग्रास के निगलने को मुख उघाड़ती, कपाल कबन्ध और त्रिशूल को धारण करती विराजमान थी और उसी देवी का महाभक्त मारिदत्त राजा था।

जलचर थलचर नभचर जीवों के जोड़े के बलिदान की आज्ञा !

भैरवाचार्य- राजन् ! यदि गगनपथ का पथिक बनना हो और विद्याधर शत्रुओं को विजय कर दिग्विजय करना हो तो जलचर, नभचर और स्थलचर जीवों के युगल का चंडमारी देवी के अर्थ हवन कर। ऐसा करने से तेरे समस्त कार्य सिद्ध होंगे।

नृपति- आचार्यवर्य ! आपकी आज्ञानुसार कोटपाल को भेजकर सर्व जाति के जीवों के जोड़े बुलाता हूँ।

इस प्रकार कहकर महाराज ने कोटपाल के बुलाने को अमात्य से कहा कि कोटपाल को बुलाकर समस्त जीवों के युगल कुलदेवता (चंडमारी) के मन्दिर में एकत्रित करें।

अमात्य- जो आज्ञा मैं महाराज की। मैं अभी कोटपाल को बुलाकर महाराज का आदेश सुनाता हूँ।

ऐसा कहकर मन्त्री ने कोटपाल के बुलाने को किंकर भेजा सो किंकर जाकर कोटपाल को बुला लाया।

कोटपाल- (मन्त्री से) मैं आपकी आज्ञानुसार उपस्थित हुआ हूँ। क्या आदेश होता है ?

मन्त्री- महाराज ने यह आदेश किया है कि जलचर, स्थलचर, और नभचर एवं समस्त जीवों के युगल चंडमारी देवी के आवास में एकत्रित करने की किंकरों को आज्ञा दो।

कोटपाल- जो आज्ञा, अभी किंकरों को बुलाकर समस्त जीवों के बुलाने का आदेश सुनाता हूँ।

इस प्रकार कहकर कोटपाल ने तत्काल बधिकों को बुलाकर समस्त जीवों के युगल लाने की आज्ञा दी पश्चात् उन हिंसक किंकरों ने सर्वत्र घूम फिरकर समस्त जीवों के युगल चंडमारी देवी के मन्दिर में एकत्रित कर कोटपाल को सूचना दी। पश्चात् कोटपालने आकर महाराज से निवेदन किया।

कोटपाल- श्री महाराज ! आपकी आज्ञानुसार समस्त युगल उपस्थित हैं अब क्या आज्ञा होती है ?

इस प्रकार कोटपाल का सन्देश सुन महाराज ने भैरवाचार्य से कहा–

महाराज- स्वामिन् ! आपकी आज्ञानुसार सर्व युगल उपस्थित हो गए हैं।

भैरवाचार्य- तो अब मातुश्री (देवी) के मन्दिर प्रति चलना चाहिये।

महाराज- जो आज्ञा।

ऐसा कहकर मन्त्री आदि समस्त परिकर सहित राजा चंडमारी देवी के मन्दिर प्रति जाता भया और वहाँ पहुँचकर देवी से प्रार्थना करने लगा–

रुधिर से व्याप्त और चक्र त्रिशूल और खड्ग धारण किये चंडमारी देवी को देखकर राजा जय जय ध्वनिपूर्वक प्रार्थना करने लगा–हे परमेश्वर ! अपने निर्मल स्वभाव से मेरे पापों को हर।

पश्चात् मन्दिर में स्थित अजा, सूकर, रीछ, रोझ, हिरण, कुंजर, वृषभ, गर्दभ, मेढ़ा, भैंसा, घोड़ा, ऊँट, सिंह, अष्टापद, गैंडा, व्याघ्र, शशा, चीता आदि समस्त चतुष्पद युगल काक, कुरच, सारस, मयूर, हँस, बगुला, सूवा, मैना, चकोर, चील, बाज, लवा, बटेर और घुघू आदि नभचर युगल और मकर, मच्छ, मंडूक, गोह, सर्प आदि जलचर जीवों के युगलों का अवलोकन कर महाराज मारिदत्त ने भैरवाचार्य से निवेदन किया।

महाराज- स्वामिन् ! आपकी आज्ञानुसार समस्त युगल उपस्थित हैं, अब कार्य का आरंभ कीजिये।

भैरवाचार्य- राजन् ! समस्त युगल देवी के सन्मुख उपस्थित किये जावें, मैं कार्यारम्भ करता हूँ।

तदनन्तर समस्त युगल देवी के सन्मुख उपस्थित कर हवन का प्रारम्भ होने लगा।

ग्रन्थकर्त्ताकृत उपदेश

मारिदत्त नृप उस चंडमारी चंडिका के अग्र भाग में अनेक प्रकार मृगादि समस्त जीवों के युगल को मारता है सो वह मूढ़मति परको मार निज जीवितव्य की वांछा और शांति की कामना करता है।

विष भक्षण से जीवितव्य की आशा, वृषभ के श्रृंगों से दुग्ध की प्राप्ति, शिलातल में धान्य की उत्पत्ति, नीरस भोजन से कान्ति की वृद्धि,

उपशम भाव विना क्षमा और पर जीव़ों को मारकर शांति वृद्धि क्या हो सकती है ? नहीं ! नहीं !! कदापि नहीं !!!

(कथा प्रसंग)

वह आरक्त नेत्र अविवेकी मारिदत्त नृप जिस समय तृणभोजी मेषादि पशुओं के घात में तत्पर हुआ उस समय भैरवानन्द समस्तयुगलों का अवलोकन कर पुनः राजा से कहने लगा–

भैरवाचार्य- नृपवर ! आपने समस्त युगल तो एकत्रित किये परन्तु मनुष्य युगल तो बुलाया ही नहीं।

मनुष्य युगल की माँग

महाराज- आपकी आज्ञानुसार मनुष्य युगल को भी मंगाता हूँ। ऐसा कहकर चंडकर्म कोटपाल को बुलाकर राजा ने आदेश दिया कि प्रशंसायोग्य मनुष्य का युगल शीघ्र लेकर आओ।

कोटपाल- (हाथ जोड़कर) जो आज्ञा पृथ्वीनाथ की, मैं अभी चंडकर्मा किंकरों को आदेश देकर उत्तम मनुष्य युगल बुलाता हूँ।

ऐसा कहकर कोटपाल ने चंडकर्मा किंकरों को बुलाकर कहा–अति मनोज्ञ मनुष्य युगल को लाकर शीघ्र उपस्थित करो।

किंकर- (मस्तक नवाकर) आपके आदेश पूर्वक शीघ्रतर यत्र तत्र से मनुष्य मिथुन को लाकर आपके निकट उपस्थित करते हैं।

श्री सुदत्ताचार्य और क्षुल्लक युगल की प्राप्ति

तदनन्तर अनेक चण्डकर्मा किंकर नर युगल की खोज में नदी तट सघन, अरण्य, नगर, उद्यान, वन, उपवन, पर्वत, और गुफा आदि में गमन करने लगे।

वहां उस हिंसा के अवसर में वृक्षों की शाखाओं से सघन और शुष्क, मयूर, कुरचों के समूह से पूर्ण पार्थिवानन्द नामक वन में संघ सहित सुदत्त नामक आचार्य प्राप्त हुए।

उस पार्थिवानन्द वन में आरक्त शुक चंचु के चवर्ण से जर्जरित आम्रमंजरी कैसी दृष्टिगत होती थी मानों कामीजन कर मार्दित व्यभिचारिणी नायिका ही हो। जिस मनोहर वन में कोमल वल्लरी के रसका रसिक भ्रमर बेलको स्पर्श करता कैसा ज्ञात होता था मानो नगर–नायिका में लुब्ध मदन की पीड़ा में पीड़ित नीच पुरुष ही है।

उस रमणीक उद्यान में सरस, सुकोमल और विकसित पुष्प–कलिका युक्त मालती लता कैसी शोभा युक्त दृष्टिगत होती थी मानो कामरस युक्त कोमल और पुष्प विगुंफित केयूर युक्त नव वधू के बाहु युगल ही हैं।

जिस वन में पवन प्रकंपित सार वृक्ष की शाखापर पुंजीभूत पुच्छ के गुच्छा सहित मयूर कैसी शोभायुक्त प्रतिभासित होता था मानो वनलक्ष्मी के चमर का विलास ही हो। जहां स्वच्छ जलपूर्ण सरोवर के तटों पर विचरते पुष्ट गात्र चकवा युगल, रस पूरित और नवीन कमल खण्ड निज चंचु से हंसिनी के मुख में देते हंस–समूह, अत्यन्त शोभायुक्त दीखते थे।

जहां केतकी के पुष्प सुगन्ध में मग्न और केतकी के कंटकों से भग्न शरीरभुजंग विरक्ता स्त्री के नखों से विदीर्ण कामी पुरुष की भांति प्रतिभासित होता था। जहां स्त्री की वीणा के शब्द में लुब्ध निकट तिष्ठे मृग–समूह हरित तृणों का भक्षण नहीं करते थे किन्तु बधिक के वाणों को खाकर जिह्वालंपटी दुष्ट जीवों के भक्ष्य वन जाते थे।

जिस वन में यक्षिणी देवियों के शरीर की सुगन्धता से मदोन्मत्त हस्ति–समूह हथिनियों की खोज में इतस्ततः भ्रमण करते कैसे दृष्टिगत होते थे जैसे संकेत के अनुसार गमन करती नायिका की बाट प्रतीक्षा करते व्यभिचारी पुरुष भ्रमण करते हैं। उसी मनोहर वन में संघ सहित श्री सुदत्ताचार्य प्राप्त हुए।

मदन के अन्त करने वाले श्री सुदत्ताचार्य ने उस वन का अवलोकन कर इसप्रकार कहा कि यहां पत्र और फलों का विघवंश होता है, इस कारण इस वन में शम दम और संयमी सत्य पुरुषों को निवास करना योग्य नहीं है।

तत्पश्चात् उग्र तपसे दैदीप्यमान आचार्यवर्य्य यमस्थान तुल्य श्मशान स्थल प्रति पहुँचे। वह श्मशान स्यालिनी कर बिदारित उदर–मृतकों के समूह और अति भयंकर शब्द करते काक और गृद्ध पक्षियों से व्याप्त हो रहा था। वह श्मशान निष्फल पलाश वृक्षों के शुष्क पत्रों, तथा राक्षसों के मुख से निकलते उष्ण श्वास और शूली दिये मृतकों के कलेवर से अत्यंत भयंकर था।

वह स्थान चोरों के समूह से व्याप्त और मांसभक्षी पक्षियों तथा निशाचरों के किलकिलाहट शब्द से प्रतिध्वनित हो रहा था। वह स्थल चिता की अग्नि में निक्षेपण किये श्याम केश–समूह के संयोग से निःसरती धूमकी गन्ध से पलायमान श्वानों से आच्छादित था।

उस श्मशान के किसी स्थल में उत्कट पवनकर प्रेरित चिता की भस्म उड़ रही थी। किसी स्थल में भग्न–भाजन और मृतमनुष्यों के कपाल पड़े हुए थे। उस भयवान् स्थान प्रति इन्द्र, चन्द्र और नागेन्द्रों के समूह कर स्तुति योग्य मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका एवं चतुर्विध संघ सहित श्री सुदत्ताचार्य नामक आचार्य प्रासुक और पवित्र–शिलाओं पर तिष्ठे। वह मुनि–संघ जीवों की दया में तत्पर तपश्चरण करते, शरीर का शोषण करता था।

वहां श्मशान स्थल में जिनदीक्षा का प्रतिपालन करते हुए, क्षुल्लक युगल कामदेव नाशक परम ईश्वर गुरुको देख नमस्कार कर उनसे पूछकर भिक्षाके अर्थ गमन करते भये।

वह क्षुल्लक युगल विविध लक्षण युक्त गात्र, प्रहर्षित बदन कमलदलनेत्र, जिन चरणों का भक्त, विषयों से विरक्त, पाप मल और मदकर त्यक्त, जैन धर्म में पूर्ण आसक्त, निज गुणों से महान्, निज

शरीर की कांति से दिवाकर को आच्छादित करता, कर में पात्र धारण करता, मदचक्र विजेता, नगर प्रति गमन करने लगे। उस समय निर्मल और तीक्ष्ण खड्ग हाथ में लिये पाप कर्म में तत्पर चंडकर्मा किंकरों ने इस बालवय क्षुल्लक युगल को देख मस्तक धुनते इस प्रकार कहा–

किंकर–अहो हो हे बालयुगल ! खड़े रहो, तुम्हारा मिलना अति कष्टसाध्य था सो सहज मिल गए । ऐसा कहकर क्षुल्लक के निकट पहुंच गए। वहां दुःख नाशक, पाप विघातक, सुन्दर गात्र और लावण्यपूरित शरीर क्षुल्लक को देख चंडकर्मा परस्पर वार्त्तालाप करने लगे।

एक–भ्रात ! सत्य कहना, यदि लोक में खोज करते तो भी कहीं ऐसा रूपवान् युगल मिल सकता था ? कदापि नहीं।

दूसरा–मित्रवर ! इसके ले चलने से महाराज पारितोषिक तो अवश्य ही देंगे। भाई, इसके हस्तपाद कैसे सुकोमल हैं ? इसका सौम्यवदन कैसा हृदयग्राही है ? अब शीघ्र इसे लेकर चलो, बिलम्ब का समय नहीं।

तीसरा–भाई देखो तो सही, हम तुमने इनको घेर भी लिया है परन्तु मुखमंडल किंचित् भी म्लान नहीं दीखता।

अन्य–भाई ! तुम भी निरे मूर्ख ही हो, कहीं धैर्यवानों का विपत्ति में कभी म्लान मुख होता है ? कदापि नहीं।

अन्य–अरे भाई ! तुम सबके सब उत्तम श्रेणी के मूर्ख हो क्योंकि जैसे तैसे तो ईप्सित वस्तु का लाभ हुआ तिस पर भी अपनी २ गप्प हांक रहे हो और व्यर्थ विलम्ब करते हो। अब इसे शीघ्रतर चण्डिका के मन्दिर प्रति ले चलो।

इस प्रकार समस्त किंकर क्षुल्लक युगल को घेरकर पशु कुल–कलित और स्त्रियों के नृत्य से पूर्ण पृथ्वी के तिलक सदृश चंडिका के मन्दिर प्रति ले गए।

इस प्रकार रौद्रभाव युक्त किंकरों ने भृकुटी के विक्षेप से वचन कहकर अपने शरीर की किरण मालाकर स्फुरायमान त्रिभुवन के चन्द्रमा बाल युगल (क्षुल्लक युगल) को निज करपल्लव में धारण किया।

जिस समय चण्डकर्मा किंकरों ने क्षुल्लक और क्षुल्लकी को हाथ से पकड़कर मनुष्यों को भयकारक मस्तक छेदने का शब्दोच्चार किया, उसे श्रवणकर मदन विजेता अभयकुमार नामक क्षुल्लक महाराज ने पुण्यफल की लता निजभगिनी को इस प्रकार सम्बोधन किया।

क्षुल्लक का क्षुल्लकी को सम्बोधन

क्षुल्लक- भगिनी ! इस अवसर में मरण की शंकाकर किंचित् भी भय न करना किन्तु भगवान वीतराग अरिहंत देवको निज हृदय–पंकज में स्थापन कर इस प्रकार विचार कर कि पूर्वभवों में जो अशुभ कर्मों का संचय किया है उसके उदय से शारीरिक कष्ट अवश्य होता है, इस कारण कोई भी मेरे शरीर का छेदन, मर्मका भेदन करो, मेरे गात्र से रस, मज्जा, वसा, और रुधिर का पान करो, मांस का भक्षण करो, ग्रीवा भग्न करो परन्तु चिरकाल से जो शांति भाव का अभ्यास किया है उसी के अनुसार चित्त को शांति करो ऐसा करने वाले मुनिजन अष्ट गुण विशिष्टदेव पर्याय को प्राप्त हो जाता है।

कन्ये ! कोई रुद्र नृप तथा क्षुद्र किंकर यदि हमारे पौद्गलिक शरीर को घात करे तो करो किन्तु वे ज्ञानपूर्वक हमारे आत्मा का घात नहीं कर सकते। इस अवसर में जैनधर्म के शरण का अनुसरण करना योग्य है।

इस प्रकार निज भ्राता क्षुल्लक के उपदेश पूर्ण वचन सुनकर वह चन्द्रमुखी क्षुल्लकी इस प्रकार कहने लगी–

क्षुल्लकी - भ्रातृवर ! आपने जो जिन सूत्रानुसार निर्मल और पवित्र उपदेश किया वह सर्वथा योग्य है। मैंने आपके कथन के पूर्व ही

यह विचार कर रक्खा है कि मेरे इस नाशवान् शरीर का कोई भी घात करो किन्तु मैं निज जीवन को जीर्ण तृण समान गिनती हूँ। मैंने चिरकाल से उपशम का अभ्यास किया है उसी को निज हृदय में धारण का कर्मोदय के फल का भोग करूंगी।

उपर्युक्त इस प्रकार भगिनी भ्रात (क्षुल्लकी–क्षुल्लक) परस्पर वार्तालाप करते जिनेन्द्रका स्मरण करते दोनों, यमराज समान रुद्र पदातियों द्वारा भैरवानंद के कुटुम्ब को आनन्दकारक कात्यायिनी देवी के मंदिर प्रति ले जाये गये।

भैरवाचार्य और देवी का राक्षसी स्वरूप

जिस मंदिर में वह भैरवाचार्य महाध्वनि करता, धनुष उठाता लोह दंडको घुमाता, लंबमान मयूर पुच्छ के गुच्छोंकर सुशोभित वस्त्रों को और लौह पीतल के आभरणों को धारण करता, कटि में वस्त्र लपेटे हाथ में तीक्ष्ण छुरी को लिये निजगुरु के भाव को प्रगट करता, अपना महत्व दिखाता, समस्त अंगमें मृग चर्म लपेटे पगों और कटि भाग में बंधे हुए घुंघुरुओं से झनकार और थप–थप शब्द करता और निज केशों को खोले हुए पिशाच समान अष्टांग विवृत भ्रमण से पूर्ण मांस भक्षी सदृश, चंडिका के चरित्र का गान करता, नृत्यकरता, अपूर्व दृश्य बना रहा था।

उसी समय चंडिका निवास में आरक्तनेत्रा, भयानक गात्रा, योगिनी शाकिनी और डाकिनियों के समूह मुख में मस्तक खंड धारण किये नृत्य करती थी। वह देवीगृह पशुओं के रुधिर से सींचा पशुओं की अस्थियों की वंदन माला लटकती, पशु की जिह्वामय पात्र से पूजन विशेष होता, पशुओं की बसा (चर्वी) करपूर्ण दीपक का प्रकाश होता, और पशुचर्म के चन्दोवा से व्याप्त था इत्यादि अपूर्व दृश्ययुक्त देवीगृह में योगिनी अनेक क्रीड़ा करती महाभयानक दृश्य दिखा रही थी।

सिंह की भांति आसन लगाए, डाढ़ से भयानक, मेघ में विद्युत सदृश सुशोभित, गजराज सदृश दंतों के अग्रभाग कर उग्र खड्ग सहित और मांस लोलुप नरनाथ (राजा) उस देवीगृह में विराजमान था।

देवी–गृह में स्थित महाराजा मारिदत्त ने समागत शांतिमुद्रायुक्त अभयरुचिकुमार क्षुल्लक और चन्द्रमुखी क्षुल्लकी का अवलोकन कर खड़े होकर हाथ जोड़ इस प्रकार शब्दोच्चार किया–

महाराज का क्षुल्लक युगल को आशीर्वाद

नृपति- श्रीमान् क्षुल्लक महाराज और क्षुल्लकीजी को सविनय नमस्कार हो।

क्षुल्लक युगल– भो शुद्धवंश की लक्ष्मीरूप कमलिनी के हंस ! भो राज गणेश ! भो गुण श्रेणियुक्त योगिराट् ! भो स्नेहपूर्ण दाता ! भो फलयुक्त वृक्षवत् नम्र, भो कलाकुल कलित कला–धर ! भो जल पूरित समुद्र तुल्य गंभीर ! भो राजन् ! आपको धर्मवृद्धि हो।

इस प्रकार पूर्ण निशाकरतुल्य बाल युगल का शांति पूर्ण आशीर्वाद श्रवणकर महाराज मारिदत्त के हृदय का समस्त रोष विसर्जन हो गया। उस समय महाराज निज हृदय में विचारने लगा।

अहा हा ! क्या ही अनुपम रूप विधाता ने निर्मापित किया ! धन्य है यह सरल सुकोमल अंगुली और दैदीप्यमान आरक्त नखों से पूर्ण हस्त पाद युगल गुंफमान और सुगोल जानु, कदलीवत् जंघा सिंहकटि को लज्जित करता कटिभाग, गम्भीर और दक्षिणा वर्तिनाभि युक्त कृश उदर, उन्नत और विस्तीर्ण वक्षस्थल, रेखात्रय युक्त शंखवत् पुष्ट ग्रीवा, पूर्ण निशाकर तुल्य वदन, आरक्त कमल तुल्य नेत्र युगल, लम्बमान दीर्घ कर्ण बिंबाफल सदृश रक्त अधर, शुकनाशावत् नाशिका, कुटिल भृकुटी, उन्नत कपोल, अर्द्ध चन्द्र सदृश राजपट्ट योग्य उन्नत ललाट, और भ्रमरवत् श्याम केशावली युक्त गात्र, क्या ही अपूर्व शोभा सहित शोभायमान हो रहा है। इत्यादि और भी महाराज मारिदत्त विचार करने लगे–

महाराज मारिदत्त आश्चर्य-सागर में

हाँ ! दुष्ट विधाता, ये दोनों सुकुमार बालक कहां आ गए ? क्या सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार इन्होंने स्वजनों के सुख का जो त्याग किया सो समुद्र पर्यंत पृथ्वी का भोग क्यों न किया ?

ये दोनों बालक आनंद युक्त, प्रशंसा योग्य, विद्याधरों के इन्द्र अथवा नागेंद्र पाताल भेदकर आए हैं ! या इस मध्यलोक की लक्ष्मी को देखने के अर्थ स्वर्गपर से सुरेंद्र या प्रभाघन चंद्रमा आया है ! अथवा बालकका वेष धारण कर मुरारि महादेव और काम देव इसमें से कोई आए हैं। या परिग्रह भंग और लिंग रहित कोई अन्य देव हैं। या अव्यक्त रूप धारणकर धृति, धैर्य, कांति, कीर्ति, लक्ष्मी, शांति, शक्ति, और सिद्धि की पृथ्वी है ! वा यश का स्थान, गुणों की श्रेणि, दुःखनाशक कवियों की वाणी, और पुण्य की भूमि हैं ! यह उपशांत वदन शांति मूर्ति चंडमारीदेवी ही क्या मनुष्य का रूपधारण कर मेरी भक्तिकी परीक्षा करनेको यहां आई है अथवा मेरे कोई सम्बन्धी दीक्षा ग्रहण कर संसार के अंत करने को यहाँ उपस्थित हुए हैं ? इत्यादि चिंतवन करते महाराज मारिदत्त ने पुनः प्रगट रूप से क्षुल्लक से प्रश्न किया।

महाराज–अहो महानुभाव ! आप कौन है ? क्या राज्य–भ्रष्ट होकर शत्रुओं के भय से नगर तज भागते हुए यहां आए हो या कहीं के राज़पुत्र हो जो रुष्ट होकर गुप्त रीति से वेष पलट यहां उपस्थित हुए हो और यह शांति मूर्ति महारूपवती कुलानंददायिनी कन्या किसकी पुत्री है ? अहो ! इस बाल्यावस्था में व्रत पूर्वक दीक्षा, धर पर घर भिक्षा और महान् गुणों की परीक्षा एवं एकसेएक अद्भुत दृष्टिगत होता है इत्यादि कहते हुए और भी कहने लगे–

भो कुमार ! भो मुने !! इस हमारे शुद्ध और कीर्ति गृहस्वरूप श्रेष्ठ नगर में इस कुमारी सहित आप किस प्रकार पधारे, यह अपना पापनाशक और सुखदायक कथांतर प्रतिपादन कीजिये।

महाराज मारिदत्त के इस प्रकार वचन सुनकर नृपति से हर्षोत्पादक क्षुल्लक महाराज इस प्रकार कहने लगे–

क्षुल्लक द्वारा महाराज को सम्बोधन

क्षुल्लक- राजन् ! जैसे अंधे के आगे नृत्य, बधिर के सम्मुख उत्तम गान, ऊषर खेत में बीजका बोना, नपुंसक पुरुष प्रति तरुण बालाके कटाक्षों का निक्षेपण, लवण रहित विविध प्रकार व्यंजन, अज्ञानियों में तीव्र तप का आचरण, निर्बल की शरण, शुभ ध्यान रहित किन्तु अति रौद्र सहित पुरुष के समाधिमरण, निर्धन का नवयौवन, कृपण का धन संचय करना, निःस्नेही में कामनीय कामिनी का रमण, अपात्र को दान, मोहरूप धूल से धूसरित मनुष्य को धर्म का व्याख्यान, दुष्टस्वभावी पुरुष से गुणों का कथन, और अरण्य में रोदन जैसे वृथा है उसी प्रकार आपके सन्मुख आपका चरित्र कहना व्यर्थ है। क्योंकि–

जो गुरु मस्तक में शूल समान जिनेन्द्र के प्रतिकूल पुरुष के निकट शुद्ध वचनों द्वारा परमागम का कथन करता है वह शुद्ध घृत और दुग्ध को सर्प के मुख में देकर उसका विनाश करता है।

क्षुल्लक महाराज और भी कहने लगे–राजन् ! जैसे मूर्छित पुरुष को शीतल जल और पवन से सचेत किया जाता है उसी प्रकार उपशांत पुरुष को धर्मोपदेश दिया जाता है परन्तु जैसे शुष्क वृक्षका सींचना व्यर्थ है उसी प्रकार अविनयी को सम्बोधन भी व्यर्थ है।

नृपवर ! मेरा जो कथांतर है वह धर्म विद्या का उपदेश है वही उत्तम पुरुषों के श्रवण और पूजन योग्य है इस कारण यदि मेरे चरित्र का श्रवण करना चाहो तो शांतचित्त होकर श्रवण करो।

इस प्रकार क्षुल्लक अभयरुचि कुमार के वचन सुनकर उपशांत हृदय होकर महाराज मारिदत्त ने भंभा, भेरी, दुन्दुभि और प्रचंड डमरु के शब्दों का निवारणकर मनुष्यों के किलकिल कलकल शब्दको भी बन्द कर दिया। पश्चात् हिंसा के विनोद का निराकरण कर विनय पूर्वक क्षुल्लक महाराज से पुनः प्रार्थना करने लगे–

मारिदत्त—हे दयापालक ! हे स्वामिन् ! आपकी आज्ञानुसार इस समय समस्त सभा स्तब्ध हो रही है। श्रमणेश ! देखिये, सर्व मनुष्य विनय युक्त आपकी वाणी की अभिलाषा से कैसे बैठे हुए हैं। मानों प्रवीण चित्रकार के रचे हुए चित्र ही हैं। अब आप अपने चरित्रका प्रतिपादन कीजिये।

क्षुल्लक-नृपवर् ! यदि आपकी पूर्ण अभिलाषा है तो मैं अपना चरित्र कहता हूँ, उसे एकाग्र चित्त से श्रवण करो।

(इस प्रकार कहकर क्षुल्लक महाराज अपने चरित्र का वर्णन करने लगे)

क्षुल्लक युगल का चरित्र

क्षुल्लक- पृथ्वीपाल महाराज मारिदत्त ! दुष्ट श्रुतानुभूत रहस्य आपके सन्मुख वर्णन करता हूँ अर्थात् इसी जम्बूद्वीप के भरत–क्षेत्र में पृथ्वी का तिलक अवन्ती नामक देश है।

उस अवन्ती देश की धरा, ऋद्धि सम्पदा का वर्द्धमान ग्रामों से विपुल आरामों से लक्ष्मी के सखा ऐसे सरोवर गत कमलों से और कंठमें है कलरव जिनके ऐसे हंस मयूरों का शोभमान है।

हे अवनीश ! वह अवन्ती देश धन कण पूर्ण कृषिकारों के सुन्दर गृहों से शोभमान है। जिस देश के किसानों की स्त्रियों के सुन्दर कर्णप्रिय गीतों को श्रवण कर पथिक जन ऐसे विमोहित हो जाते हैं कि एक पग भी गमन नहीं कर सकते। उस देशवासी कृषकजनों की स्त्रियां जलपूर्ण घटों को मस्तक पर धारण कर पंक्तिबद्ध गमन करती कैसी दृष्टिगत होती हैं, मानों जिनराज के जन्माभिषेक के अर्थ क्षीराब्धि से जल ग्रहण कर श्रेणीबद्ध गमन करती देवांगनाओं की पंक्ति ही है।

महीपते ! श्रेष्ठ तन्दुलों के कणों से सुगन्धित पवनयुक्त देश में खेतों की क्यारियों में करि (सूवा) चुम चुम शब्द करते है; जिस देश में गौओं के समूह पशु भाषा बोलते इक्षु दंड के खण्डों को चरते हैं।

धरानाथ ! उस अवन्ती देश में गौओं के पुष्ट भाग को निज जिह्वाकर चाटते, हुंकार शब्द करते वृषभों के समूह अत्यन्त मनोहर दीखते हैं। जहां मन्थर गमन करतीं और निज पुच्छ से सारस पक्षियों को उड़ाती महिषी विचरती हैं। जिस देश में काहल जाति के वादित्रों के शब्द में आसक्त–चित्त व्यभिचारिणी नायिका गृह कार्य को छोड़कर संकेत के अर्थ वृक्षों के झुरमुट में पहुंचती हैं।

जिस देश की पतिभक्ता विरहिणी नायिका निज गृहों के द्वारों पर बैठी अपने प्राणनाथों की प्रतीक्षा करती अत्यन्त शोभती हैं।

जिस देश के पथिक जनमार्ग में दधि, दुग्ध, घृत और तंदुल आदि उत्तम पदार्थों का आस्वादन करते सुखपूर्वक गमन करते हैं। जिस देश की स्त्रीजन निज आवासों के झरोखाओं में से निज चन्द्रवदन को दिखाकर पथिक जनों को मोहित करती हैं। जिस मनोहर देशके चतुष्पद पशुगण प्रसन्न–वदन होते तृणों को छोड़कर धान्य के खेतों में चरते हैं।

उज्जैन नगरी का वर्णन

उसी रमणीक अन्वती देश में स्वर्गपुरी समान उज्जयिनी नामकी नगरी है। उस नगरी में–मरकत मणिकी किरणों से व्याप्त स्फुरायमान हरित पृथ्वीतल से मूढ़ बुद्धि गजराज दूव (हरिततृण) की आशा से रस की इच्छा चिंतवन करता महावत की प्रेरणा से मंदगति से गमन करता है अर्थात् उस नगरी के राजमार्ग में हरित मरकतमणियां लगी हुई है। उनमें हरित घास की आशंका उत्पन्न होने से गजराज आगे पग नहीं देते किन्तु दूब के लोलुपता से उसके भक्षण की इच्छा करता खड़ा हो जाता है तब महावत की प्रेरकता से गमन करता है सो भी मंदगति से।

श्री क्षुल्लक महाराज और भी कहने लगे–राजन् ! जिस उज्जयिनी नगरी के गृहों में लगी हुई चन्द्रकांत् मणियों की कांति आकाश में कैसी शोभा विस्तारती है मानो उच्छलती धवलकीर्ति ही है। जिस नगरी में

पीत मणियों के राग से लिप्त मृग लोचना केशर का तिरस्कार करती हैं क्योकि पीतमणि के पीतव्य से वे स्त्रियां स्वंय पीतवर्ण दृष्टिगत होती हैं फिर केशर को क्यों अंगीकार करें?

जिस नगरी के मन्दिरों में लगी हुई इन्द्र नीलमणि की प्रभा से व्याप्त स्त्रीजन हास्य द्वारा ज्ञात होती है क्योंकि इन्द्र नीलमणि की प्रभा से ऐसी श्याम दीखती है जो पहिचानी नहीं जाती किन्तु जिस समय हास्य रस में मग्न होती हैं उस समय दन्त पंक्ति से जानी जाती है। जिस नगरी में चिरकाल से परदेश प्रति गए हैं पति जिनके ऐसी प्रोषिता नायिका प्रातः समय अमल मण्डल मुख को मणियों की भित्ति से देखती म्लान मुख हो जाती हैं क्योंकि भर्त्तार बिना हमारे मुख–मण्डल को कौन देखेगा, इससे यह हमारा श्रृंगार ही व्यर्थ है।

जहां बालकों को अंक में लेकर मणियों की भित्ति में दिखाते हैं सो वे बालक अपने प्रतिबिंबको देख अन्य बालक की शंका कर हाथ की सैन से बुलाते कैसे अच्छे मालूम होते हैं !

नृपवर ! जहां के गृहों में रत्न और मुक्ताफलों की रंगावली के चहूं ओर सुगंधित पुष्पों की क्यारी कैसी अनूठी शोभा विस्तार रही है। उस नगरी के निवासीजन अन्य जनों को सुखाश्रित करते–करते आप वृद्धि रूप हो रहे हैं। उस नगर के समस्त जीव चोरमारी आदि के उपद्रव से रहित निःशंक शयन करते हैं। जिस नगरी के राजमार्ग में गमन करते मदोन्मत्त गजों के मद से कर्दम हो रही है। जहां अनेक प्रकार के शतशः बाजार हैं तिनकी सहस्र दुकानें अपनी शोभा विस्तारती कैसी अच्छी पंक्ति रूप दृष्टिगत होती हैं ? जहाँ का राजमार्ग पथिकों के मुख से पड़े हुए तांबुल के रस से कहीं रक्त वर्ण दृष्टिगत होता है, कोई स्थान गमन करती गजगामिनी कामिनियों के पड़े हुए रत्नाभरणों कर चित्र विचित्र हो रहा है।

कोई स्थल कपूर की धूलि से शुभ्रवर्ण सुगन्ध युक्त हो रहा है, कोई स्थल मृग नाभिकी सुगन्ध में लुब्ध भमरों के समूह से श्याम हो रहा है ! राजन् ! उस महानगरी का वर्णन कहां तक किया जाय, जहां का यशोर्ध नामका महा प्रतापी राजा हुआ।

महाराज यशोर्ध का परिचय !

जहां का यशोर्ध नामका नृपति न्यायकर राजा, प्रयत्न से मंत्री और सत्य से व्यवहार धारता भया। जहां कुलवधु के समूह से कुल धन से पुरूषार्थ और दान से द्रव्य शोभता था।

वह क्षत्रिय धर्म का पुंज यशोर्ध नामका महापति यौवनावस्था में आरूढ़ कैसा शोभता था मानो गुणों का मिलाप व तपका प्रभाव वा पुण्यका पुंज व कलाका समूह व कुलका भूषण वा यशका निधान, न्यायका मार्ग और जगत का सूर्य ही हो। वह प्रजापालक पापग्रह रहित, पुरूषों के शुद्ध करने में मणि, दीन अनाथों को चिंतामणि शत्रुरूप पर्वत के चूर्ण करने को वज्रपात और मण्डली के राजाओं के मुकुटों में चूड़ामणि समान शोभता भया। उस यशोधर नामक पृथ्वीपालके कामकी युक्त, कामकी विद्या, काम की शक्ति, कामकी दीप्ति, काम की कीर्ति, काम के बाणों की पंक्ति और काम के हाथ की वीणा समान चन्द्रमति नाम की महारानी होती भई। उस महारानी के उदर से सुकविकी बुद्धि से काव्यार्थ की भांति 'यशोधर' नामका (मैं) पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ।

बालक यशोधर का परिचय !

स्वजनों कर बहुमानित और रत्नों कर भूषित मुझे जननी ने उत्पन्न किया सो मानो नवीन मदन के रस का उत्पन्न हुए पुष्प का और यौवन रूप वृक्ष के फल का गुच्छा ही है क्या ?

राजन् ! जब मैं बाल्यावस्था में आया तब प्रथम तो निज वयप्रमाण बालकों के साथ गृह ही में बालक्रीड़ा करने लगा। पश्चात्

जब पठन योग्य हुआ तब हमारे माता पिता ने मुझे योग्य अध्यापक के निकट इस प्रकार स्थापन किया मानो स्ववंश आत्मा को अभीष्ट विनय में ही स्थापन किया। वहां प्रथम तो वर्णमात्रादि कर्मका शिक्षण प्राप्तकर पश्चात् क्रमपूर्वक व्याकरण, कोष, न्याय, काव्य, छन्द, अलंकार में निपुण हुआ। पश्चात् मैंने ज्योतिष, सामुद्रिक, वैद्यक का अभ्यास किया, तदनन्तर गान विद्या तथा नवरस युक्त नृत्यकला और वादित्र बजावने की विद्या में भी जब प्रवीण हो गया तब रत्न परीक्षा, गजराज, घोटक, वृषभ आदि पशुओं की परीक्षा के शास्त्रों का मनन किया।

पश्चात् फल, पुष्प पत्रादि छेदन का अन्तर शील बढ़कर्म, चित्र लेखन और काष्ठकर्म में भी अभ्यस्त हो गया। तदन्तर गज घोटक आदिक आरोहण, धनुष विद्या, युद्ध कला, मल्ल विद्या, जल तरण आदि अनेक कलाओं में प्रवीण हुआ। धरानाथ ! जिस समय मैंने लावण्य रूप जल से सींची हुई तरूणता में पदार्पण किया उस समय यद्यपि अंग सहित था तथापि अनंग (कामदेव) सदृश दृष्टिगत होता था। जब मेरे पिता ने मुझे पुष्टिगात्र देखा तब रूप लावण्य की सरिता समान पांच राजपुत्रियों के साथ मेरा पाणिग्रहण कराया। मैं भी सुखसागर में ऐसा मग्न हुआ कि व्यतीत हुए समय को किंचित् भी न जाना। तदनन्तर मेरे पिता वैराग्य अवस्था को प्राप्त हुए।

महाराजा यशोर्ध का वैराग्य

यशोर्ध महाराज चन्द्रमा की किरण समान उज्ज्वल केश को देख चिंतवन करने लगे–हा कष्ट ! रति रूप सपत्नी को मथनेवाला और दुर्भाग्य की राशि इस जरा दासी ने क्या मेरे केश का ग्रहण कर लिया ?

अथवा यह शुभ्र उत्कष्ट और दुष्ट कालाग्नि द्वारा भस्म हुए तारुण्य रूप वन की भस्म की कणिका है ? यही पलित केश मेरी वृद्धावस्था का सूचक है। इस वृद्धावस्था में जो मुख से लार बहती

है वह ऐसी जान पड़ती है मानो पुरुष के शरीर से शक्ति ही लारका रूप धारण कर निकल रही है तथा वृद्ध के मुख से जो दंत पंक्ति पड़ती है सो मानो पापोदय से पुण्य की सृष्टि ही पड़ रही है।

इस वृद्धावस्था में कामिनी की गति समान मंद दृष्टि हो जाती है। उस समय हाथ में यष्टिका (लाठी) स्थिर नहीं रहती सो सत्य ही है कि नवीन आई हुई जरारूप वनिता के संसर्ग से यष्टि का रूप स्त्री किस प्रकार ठहर सकती है ? इस जरावस्था में कुकवि की काव्य की भांति पग भी नहीं चलते अर्थात् जैसे कुकवि के काव्य के पद नहीं चलते उसी प्रकार वृद्ध पुरूष के पाद भी नहीं चल सकते।

वृद्ध पुरूष के शरीर से जो लावण्यता विसर्जित हो जाती है सो ऐसी ज्ञात होती है मानो जरारूप सरिता की अभंग तरंगों से धोई हुई है। इत्यादि चिंतवन कर यशोर्धमहाराज और क्या विचारने लगे–

देश कोष, शास्त्र, सेना, अमात्य, गढ़ और मित्र एवं सप्त अंग राज्य के तथा दो हस्त, दो पग, नितंब, वक्ष कला पृष्ठ और मस्तक एवं अष्टअंग शरीर के किसी भी भुवन में शास्वते स्थिर नहीं रहते। इस कारण उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन और ब्रह्मचर्य एवं दशों धर्म का पालन करता हूँ तथा अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह त्याग इन पंच महाव्रतों का मैं आचरण करता हूं।

महाराज यशोर्ध और भी चिंतवन करने लगे–मैंने अपनी अज्ञानता से विषय भोगों में मग्न होकर निज कुटुंबियों के स्नेह में तल्लीन होकर इतना समय व्यर्थ किया। मैंने इस बात का किंचित् भी विचार न किया कि ये पंचेन्द्रियों के विषय विषमिश्रित मिष्टान्न की भांति प्राणघातक और कुगतियों में ले जाकर अनेक दुःखों का पात्र बनाते हैं।

इसके सिवाय मैंने इसका विचार न किया कि ये पुत्र मित्र कलत्र आदि समस्त कुटुंब समूह स्वार्थपरायण हैं, परन्तु इनके स्नेह

में आकर उचित का विचार न करता पाप कार्यों में तत्पर हो रहा था पर अब सर्व कार्यों का त्याग कर जिन दीक्षा ग्रहण कर महा तपश्चरण कर संसार भ्रमण से निर्वत्त हो जाऊँगा। इत्यादि विचार कर महाराज यशोर्ध ने समस्त राज कर्मचारियों को निज आंतरिक रहस्य सुनाया उस समय समस्त कर्मचारीगण यद्यपि निज हृदय में अतीव दुःखित हुए परन्तु महाराज को दृढ़प्रतिज्ञ देखकर किंचित् भी कहने का साहस न कर सके और महाराज की आज्ञानुसार समस्त सामग्री एकत्रित कर यशोधर नामक पुत्र (मेरे पूर्वभवका जीव) को बुलाकर राज्य तिलक का प्रयत्न करने लगे।

यशोर्ध महाराज ने इस प्रकार कहकर मेरे राज्यपट्ट बांधा सो मानो बंधुओं सहित स्नेह बंध ही किया तथा अन्य नरेशों का बाहुबंध किया सो मानों दीनजनों को चामीकरका निबन्ध ही किया।

क्षुल्लक महाराज कहने लगे–राजन ! मेरे पिता अर्थात् यशोर्ध महाराज ने जिस समय मेरे कर में राज्यपट्ट बांधा उसी समय समस्त अन्य राजाओं के भी बाहुबंध कर उनके हाथ से मेरा कर ग्रहणकराकर कहा कि इस विस्तृत राज्य की लज्जा आप लोगों को हैं। इत्यादि कहकर आप जैन पथ के पथिक बनकर प्रति गमन कर जैनाचार्य के निकट जैनेश्वरी दीक्षा धारते भए।

राजन् ! मेरे पिता तो कामरूप के मदके विघातक होते महा तपश्चरण करते शिव राज्य के अर्थ प्रयत्न करने लगे और मैंने वृद्ध मंत्रियों की सहायता से आन्वीक्षिकी राजविद्या द्वारा इंद्रियविजयी आत्मा का ज्ञान प्राप्त किया। त्रयी नामकी विद्या से ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, और शूद्र इन चारों वर्णों के आचार विचार जाने, दंडनीति नामकी विद्या से खोटे मद युक्त दुष्टों के योग्य दंड का स्वरूप ज्ञात किया और वार्ता नामकी विद्या से धनादि संचय की रीति नीति का शिक्षण प्राप्त किया।

तदनन्तर–लोक नीतिज्ञ और धर्मज्ञ वृद्ध पुरूषों के संसर्ग से द्यूत, मांस, सुरा, वेश्या, खेट, चौर्य और परांगना इन सप्त व्यसनका परित्याग कर क्रोध, मोह, मान, आदि कर्मों को विसर्जित किया।

नृपवर ! उस समय मैं यद्यपि काम विनोद का नाममात्र सेवन करता था तथापि हर्षोत्पादक अंगों से निश्चित दूर रहता था। किंतु मंत्रियों द्वारा विग्रह, यान, आसन, आश्रय आदि राज्य के अंगों का ज्ञान मेरे हृदय में स्फुरायमान होने लगा उसी समय से भृत्य समूह कंपित गात्र होते निज कार्यों में तत्पर होने लगे। जो मुझसे भयभीत थे वे नगर ग्रामों का निवास छोड़ अरण्यों में वास करने लगे। जो दुष्ट मंत्रियों के बहकाए हुए नृपगण रणांगण में युद्ध के सन्मुख हुए वे चंचला विद्युत् सदृश विलुप्त हो गए और जो नम्र धराधीश थे वे सुख पूर्वक निज जीवितव्य व्यतीत करने लगे।

नृपवर ! रणांगण में दुर्निवार तलवार की धार से परमंडल के राजाओं का मैंने तर्जन किया और दिशाओं में फैलते हुए अपने तेज सूर्य और चन्द्रमा का विजय किया।

पृथ्वीनाथ ! यह तो आप भी जानते हैं कि जो नृप प्रतापवान् और राज्यकार्य का नेता होता है वही नरेश स्वराज्य का रक्षक और प्रजाका का पालक होता है। मैं भी उस समय न्याय पूर्वक राज्य करता स्वजन और परजनों में प्रतिष्ठापात्र बना हुआ सुखपूर्वक काल व्यतीत करता था इत्यादि।

इति श्री महामात्य नन्हकरणाभरण महाकवि-पुष्पदंतविरचित महाकाव्य-यशोधरचरित्र में यशोधरधर्म-महाराज्य पट्टबंधवर्णन नामक प्रथम परिच्छेद समाप्त हुआ।।१।।

द्वितीय परिच्छेद

यशोधर, चन्द्रमति पूर्वभव वर्णन।

राजन् ! वे राजा यशोधर निज स्त्री के प्रेम में आसक्त–चित्त होते निज हृदय में क्या विचारने लगे कि स्वच्छमति, हंसगति, मेरी प्रिय भार्या अमृतमयी मेरे हृदय में वास करती नेत्र के टिम कार मात्र विरह से विकल हो जाती है तो मैं भी उस प्रिया सहित भोग भोगूंगा, अब चाहे नृपपूज्य राज्य नष्ट हो जावे चाहे लक्ष्मी पर वज्रपात हो और चाहे लज्जा भी नष्ट हो जावे परन्तु उस हृदयवासिनी से एक क्षणमात्र भी पृथक न होऊंगा ? नहीं ! नहीं ! ऐसा नहीं करूँगा ? किन्तु गुणों के समूह से युक्त और यश तथा जय के धाम यशोमति नामक निज पुत्र को राज्य सिंहासन पर स्थापन कर राज्यभार उसी को समर्पण कर पश्चात् इष्ट प्राप्ति के हेतु अमृतरती के गृहपति जाकर उस प्रियतमा सहित विलास करूंगा और उसी के साथ ईप्सित भोजन भी करूंगा।

उस सुकोमल क्षीणगात्रा मनोहरमुखी प्रिया सहित निर्जन बनका भी वास उत्तम, समस्त सुखों का कारण और लक्ष्मी का विलास है, किन्तु प्रियतमा बिना स्वर्ग का वास भी अच्छा नहीं इत्यादि और भी अनेक विचार करने लगे।

तदुपरांत प्रसारित किरण दिवानाथ अस्ताचल को उपस्थित हुआ रक्तवर्ण दीखने लगा सो मानों वह शिक्षा ही देता है कि अर्थ रहित पुरुष रक्तवर्ण दृष्टिगत हो जाता है।

क्षुल्लक महाराज पुनः कहने लगे–महाराज मारिदत्त ! जिस समय यशोधर महाराज उपरोक्त विचार करते थे इतने में सन्ध्या समय होने लगा उस समय दिवानाथ के अस्त होने से दिशारूप स्त्री रक्तरूप वस्त्र धारती हुई।

जैसे महायोद्धा रणांगण में शस्त्रों के प्रहार से तृप्त होकर पुनः पतन अवस्था को प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार सूर्य भी अष्ट प्रहर

तापिक होकर अस्त दिशा को प्राप्त होता भया। पश्चात् जगत मंडप में तारा रूप पुष्पों और चन्द्रमा रूप फैलकर नम्रीभूत होती सन्ध्यारूप बल्लरी दिशाओं प्रति प्रसरित होने लगी। सूर्यास्त समय जो अन्धकार फैला हुआ था वह चन्द्र किरणों के विस्तार से नष्ट होने लगा आकाश मंडल में उदय होती शीतरश्मि लोकों की दृष्टि में कैसी भासने लगी मानो अन्धकार के समूह का खण्डन करने वाला चक्र अथवा इन्द्र की लक्ष्मी के मुख का मंडल ही है। वह प्रकाश–मूर्ति गगनांगण में प्रकाश करता कैसा ज्ञात होता था मानो कीर्तिरूप वनिता का मुखमण्डल अथवा जननी को सुख देने वाला अमृत का भवन या परमात्मा के यश का पुंज तथा सुरेश्वर के मस्तक का श्वभ्र छत्र और रात्रि रूपी नायिका के ललाटका तिलक ही है।

वह चन्द्रोदय यद्यपि समस्त लोक को आनन्दकारक और शांतिकर्ता होता है परन्तु पतिविहीना विरहिणी और जाररक्ताव्यभिचारिणी स्त्रियों को सन्तापकारी होने लगा। वह आकाश रूप क्षेत्र (खेत) में उदय होता निशाकर, कुटुम्बी (किसान) की भांति अत्यन्त शोभता भया, क्योंकि आकाश नक्षत्रों पर व्याप्त है। और खेत धान्य के कणों से पूर्ण है। आकाश में मेष, वृषभ, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धन, मकर, कुंभ और मीन ये द्वादश राशियाँ सुशोभित होती हैं और खेत में चना, गेंहू, जव, उर्द और मूंग आदि अष्ठादश प्रकार के धान्यों की राशियाँ उन्नत दीखती हैं।

राजन् ! चन्द्रमा ज्योत्स्ना चांदनी से व्याप्त समस्त जगत कैसा दृष्टिगत होता था, मानों रात्रिरूप स्त्री ने चन्द्रमा रूप घट से निकसी अविच्छिन्ना अमृतमय दुग्ध की धारा से जगत को शुभवर्ण ही किया है। उसी समय महाराज यशोधर के हृदय में निज प्रिया के मिलाप की लालसाका उत्कट उद्गम होने से द्वारपाल को आदेशित किया कि तुम अमृतमती महारानी के महल में जाकर सूचित करो कि महाराज पधारते हैं।

द्वारपाल- (मस्तक नवाकर) जो आज्ञा श्री महाराज की, मैं अभी जाकर सूचित करता हूं और वहां का समस्त प्रबन्ध ठीक करा देता हूं।

इस प्रकार कहकर द्वारपाल ने अमृतमती के महल में जाकर महाराज का आदेश सुना दिया। पश्चात् महारानी के महलस्थ द्वारपाल समस्त परिवार को सीख देकर महाराज यशोधर के (मेरे) निकट आकर विज्ञप्ति करने लगा।

द्वारपाल–(नमस्कारकर) श्री मन्महाराजाधिराज की जय हो। श्री पृथ्वीनाथ ! स्वर्गतुल्य महारानी के मन्दिर प्रति पधारिये।

इस प्रकार द्वारपाल के निवेदन से महाराज 'मैं' तत्काल जाने को उद्यत हुआ उस समय तिमिर नाशक (प्रदीप) हाथ में लिये एक सेवक आगे जाता था, अनेक भृत्यगण चमर ढारते थे, अनेक पुरूष मंगलीक शब्दों से यशगान करते जाते थे और अनेक जन खड्गध ाारण किये मेरे आगे पीछे चले जाते थे। इस प्रकार गमन करता मैं मणिमय शिखरयुक्त अमृता देवी के महल में पहुंचा। वह रमणीक महल कहीं २ रत्न खचित भीतों से मनोहर दीखता था। कहीं अनेक प्रकार वादित्रों की हृदयग्राही ध्वनि से प्रतिध्वनित हो रहा था। कहीं कमनीय कामिनियों के हाथ की वीणा के शब्द से झंकार हो रही थी। कहीं पुष्पों की मालाओं की सुगंधि से लुब्ध भ्रमरों की झंकार ध्वनि से पूरित हो रहा था, कहीं लटकती मोतियों की मालायें और रत्न खचित चित्रामोंकर अपूर्व छटा दृष्टिगत हो रही थी।

उस महल प्रति गमन कर मैंने शुद्ध स्फटिक से जड़ित रत्नोंज्वला नामकी प्रथम भूमि ऐसी देखी मानों विशुद्ध आकाश ही है।

राजन् ! वहां से गमन कर पुष्पमणि की पेड़ियों पर पद न्यास करता मालती के सुमन समूह से व्याप्त धरा की भांति मुक्ताफलों से जड़ित दूसरा खण्ड देखा। वहाँ से गमन कर पद्मरागमणि विनिर्मित तृतीय खण्ड देखा। तदन्तर मरकतमणि और नील रत्नों की कांति के समूह से व्याप्त चतुर्थ खण्ड का अवलोकन किया। तत्पश्चात् विद्रुमकी बनी हुई पञ्चम भूमि ऐसी देखी मानों विधाता ने मूंगा के वृक्ष का जाल ही पूर दिया है। फिर स्वर्ण निर्मित अतीव शोभायुक्त

छठे खण्ड प्रति पहुंच कर तत्रस्थ शुक, हंस, मयूर और मैना आदि पक्षियों के मनोहर शब्द श्रवण कर चित्त प्रसन्न किया। वहाँ से पाराग मणि और पीत रत्नों कर खचित सप्तमी धरा का अवलोकन कर विधाता की शिल्प विद्या की प्रशंसा की। तत्पश्चात् वहां से भी प्रयाण कर चन्द्रकांत मणि की शिलाओं के तेज से व्याप्त गृहचका नाम की अष्टम धरा प्रति पहुंच कर हृदय शांत करता भया।

राजन् ! जिस समय मैंने उस अतिसुन्दर मन्दिर में सातों ही भूमियों को देखा उस समय मेरी बुद्धि ऐसी कम्पमान होने लगी मानो नरकों में ही प्रवेश किया है।

नृपवर ! जिस समय नरक तुल्य सप्तम भूमि के अवलोकन मात्र से जैसे मेरी बुद्धि नरकों के दुखों से डरकर कम्यमान हुई थी उसी प्रकार जब रत्नकांता गृहचक्रा नामकी अष्टम पृथ्वी प्रति पहुँचा तब अष्टम धरा (मोक्ष) प्राप्ति सदृश आनन्द हुआ।

यद्यपि अष्ट कर्म विनिर्मुक्त होकर ही मोक्ष प्राप्त होता है परन्तु मैं कर्मों से लिप्त और पापकर्म से वंचित होता हुआ भी सर्वांग ग्राहिणी निज प्रिया के प्रेमालिंगन की लालसा से रोमांकुरित हृदय और स्वेदपूर्ण गात्र होकर आनन्द में मग्न हो गया।

पृथ्वीनाथ ! उस समय काम के उद्वेग से सविष सर्प की भांति प्रज्वलित होता मेरे सर्वांग में ऐसा कम्प उत्पन्न हुआ कि प्रिया के मंदिर में पहुंचना दुष्कर हो गया।

पश्चात् यथा–तथा प्रथम द्वार में प्रवेश किया ही था कि मृदुभाषिणी विनय नम्रा द्वारपाली ने मुझे देख जयकार शब्द किया। तदनन्तर शुभ्र झाग से आच्छादित नवीन कमल सदृश नवीन और श्वेत वस्त्रों से आच्छादित कोमल गात्रा द्वारपाली के हाथ का अवलम्बन कर मैंने महल में प्रवेश किया।

प्रजापालक ! उस महल में प्रवेश करते समय ही दैव ने मेरी बुद्धि का हरण कर लिया। उस समय निज प्रिया के मुख के सुंगधि

ात स्वादयुक्त वचनालापका श्रवण कर नासिका और कर्णों को आनंदित किया। उस मंजुभाषिणी अत्युत्तम रूप के अवलोकन से नेत्र तृप्त किये।

उस चन्द्रवदना के अधरामृत के आस्वादन से जिह्वाको सन्तोषित किया और उस सुकोमल गात्री के शरीर के स्पर्श से सर्व अंग सुखपूर्ण किया एवं पूर्ण चन्द्रानना के संयोग से पाँचों इंद्रियाँ संतृप्त हुई। उस समय का आनंद और हर्ष अकथनीय था।

राजन् ! उस समय का अवलोकन, संभाषण, दान, आलिंगन, विश्वास, प्रिया का मिलाप और रतिक्रीड़न जो अमृतादेवी के संसर्ग में मुझे प्राप्त हुआ वह किसी को भी प्राप्त न हुआ होगा।

नृप-श्रेष्ठ ! उस समय का हास्यरस मिश्रित कामोत्पादक मंजुभाषण, हृदयग्राही मुख का विकार, चित्ताकर्षक भाव, भृकुटी और नेत्रों के निक्षेपणरूप विभ्रम, और, रतिक्रीड़ा के समय का रसास्वाद अपूर्वदृष्ट था।

न्यायमूर्ति ! समस्त क्रीड़ा से निश्चिंत होकर जब शयनस्थ हुआ तब उस सिंहकटी, कमलदलनेत्रा, पीनोन्नतकुचा, भ्रमर विनिंदित केशा,चन्द्रवदनी, गजगामिनी, प्रिया के रूप का स्मरण करता नेत्र बन्द किये लेटा हुआ था इतने में वह पर पुरूषरता मेरे भुजपंजर से निकल शनैः शनैः पादविन्यास करती गमन करने लगी। तत्काल मैं भी उठकर देखने लगा कि इस अर्द्धरात्रि के समय वह कहां जाती है ऐसा विचार कर खड्ग हाथ में धारण कर गुप्त रीति से उसके पीछे गमन करता क्या देखता हूं कि वह कूबड़ा के सन्मुख हाथ जोड़े खड़ी हुई है।

पृथ्वीनाथ ! वह कूबड़ा पुरुषार्थ में अनुद्यमी, सर्वजन निंद्य, दावानल से दग्धकाष्ठासदृश गात्र, दीर्घदांतों से दंतालुमुख, कर्दमर्क बुदबुदा समान नेत्र, अति नीचे और विषम ओष्ठ, फटे, रुक्ष और कठोर हस्तपाद खप्पर समान, मांस रहित कटि, तुंबा समान उदर, सूक्ष्म और

कठोर हृदय रूक्ष केशों से भयानक अन्य पुरूषों के पादत्राण (जूतों) का रक्षक, हस्ति घोटकों के बचे हुए अन्नकणों पर आजीविका जिसकी ऐसा था। ऐसे महाकुरूप कूबड़ाने जिस समय अमृतादेवी को देखा तत्काल वक्रदृष्टि से हुंकार शब्द करता कहने लगा।–

रहेलोरीखले ! सराव रहित दासि ! तूने इतना विलंब क्यों किया ? नित्य की भांति शीघ्र क्यों नहीं आई ? इत्यादि बक बक करता चाबुक हाथ में लेकर उस सालंकारा को मारने लगा। तत्पश्चात् चोटी पकड़ पृथ्वी पर पछाड़ पाद प्रहार करता भया। उस समय कूबड़ा के चरणों को नमस्कार करती अमृतादेवी नम्रभाव से कहने लगी–

अमृतादेवी-स्वामिन् ! आज गृहकाज से अवकाश न मिलने से विलंब को प्राप्त हुई, नाथ! आप कामदेव सदृश मेरे हृदय में वास करते हो इस कारण आपके रुष्ट होने से मेरे छत्र, चमर आसन, सतखना महल, हाथी, घोड़ा, रथ प्यादे, वस्त्र, आभूषण और समुद्रांत पृथ्वी का राज्य समस्त व्यर्थ है।

प्राणवल्लभ ! आपके बिना कुंकुमका विलेपन, रत्नसुवर्ण जड़ित आभूषण, उत्तम बहुमूल्य वस्त्र और मुक्ताहार यह समस्त ही अग्निज्वाला सदृश सर्वांग को दग्ध करते हैं। हे विधाता ! तूने इसे बड़े कुल में उत्पन्न कर मेरा भर्त्तार क्यों न बनाया और यदि ऐसा न भी किया था तो मुझे ही जीवित क्यों रक्खा।

प्रियवर ! आपके अलाभ में जो दिन व्यतीत होता है उसे मैं ऐसा मानती हूं कि पूर्व संचित पापकर्म के उदय का फल आज भोग रही हूँ।

इस प्रकार कूबड़ा से प्रार्थना करती अमृतादेवी पुनः कूबड़ा के चित्त प्रसन्नार्थ इस प्रकार कहने लगी यदि कदाचित् यशोधर राजा यमपुर गृह (मृत्युगृह) प्रति प्राप्त होय तो मैं नृत्य करूंगी और चैत्र मास में नैवेद्य के ग्रास से कात्यायिनी देवी की पूजा करूँगी।

मारिदत्त महाराज से क्षुल्लक महाराज कहने लगे–राजन् ! वह अमृतादेवी उपरोक्त प्रकार नम्र वचनों द्वारा निज जार कूबड़ा को सन्तोषित कर गाढ़ालिंगन करने लगी। उस समय दोनों प्रेमी प्रेमसागर में निमग्न होकर भय और लज्जा को एकदम भूल गए।

नृपवर ! उस समय दोनों की अवस्था देखने से मेरे क्रोध की सीमा न रही। तत्काल संग्राम के रुधिर का प्यासा मत्तगजेंद्रों के मस्तकों का विदारक और विद्युत् सदृश दीप्तिमान् खड्ग जैसे ही म्यान से निकाल कर दोनों मारने को उद्यत हुआ ही था कि उसी समय चित्त में यह विचार आकर उपस्थित हो गया कि जिस तीक्ष्ण खड्ग से प्रबल वीरों की सेना का निपात किया, जिस खड्ग से उन्नत मुख नृपगणों का विनाश किया, जिस खड्ग से महा भंयकर सिंहों का विध्वंस किया, उस खड्ग से इन दीनों को कैसे मारूं ? जो खड्ग तुमुल संग्राम में शत्रुओं के मस्तक पर पड़ा वह रंकों के मस्तक पर कैसे पड़े ? इत्यादि चिंतवन कर मैंने क्षमा रूप जल से क्रोधाग्नि को शाँत किया। पश्चात् खड्ग म्यान में कर वहां से चलता बना अर्थात् चित्रामों से विचित्र महल से जिस प्रकार आया था उसी प्रकार गुप्त रीति से शय्या पर शयनस्थ होकर हृदयवासिनी चारूहासिनी दुष्टा के चरित्रों का स्मरण करने लगा–

हा ! धिक्कार तेरी बुद्धि पर, तूने निज हृदय में किंचित् भी विचार न किया कि कहां तो मेरा क्षत्रिय कुल और कहां यह रंक वंश ? कहां तो समुद्रोत पुथ्वी के पति की प्राण वल्लभा मैं, और हाथी घोड़ाओं के उच्छिष्ट अन्नकणों से आजीविका करने वाला दरिद्री कूबड़ा ?

हा ! दुष्टे, तूने यह भी विचार न किया कि मेरा पति राजाधिराज है और नवयौवन पुत्र विद्यमान होते ऐसे नीच, रंक, दरिद्री, उच्छिष्टभोजी मलिनगात्र कूबड़ा के साथ कैसे रमण करती हूं ? हां ! अमृते ! तेरी बुद्धि एक साथ ही नष्ट हो जायेगी तुझे यह

नीच कृत्य करते किंचित भी लज्जा न आई, परन्तु सत्य भी है कि जो बल्लरी (लता) आम्रवृक्षकी शाखा पर प्रसरती आम्रफल का स्पर्श करती है वही लता कंटकयुक्त वृक्ष की शाखापर लंबमान होती और उसका चुम्बन करती है।

जिस वृक्ष की शाखा पर हंस तिष्ठता है उसी पर बगुला भी बैठ जाता है, जो कमलिनी दिवाकरकी किरणों के स्पर्श से प्रफुल्लित होती है उसी को गमन करता मेढ़क पादप्रहार करता है।

जो स्त्री गुण (फिचड़) सहित धनुष की कुटिलता सदृश है। जो राग को छोड़ने वाली संध्या तुल्य है, जो मारक स्वभावी विष की शक्ति समान है, जो गृह में कलुषता करने वाली धूम्र पंक्तिवत् है, और जो कामिनी सरिता की भाँति होती है वह दुश्चारिणी, दुष्टा, परपुरूषगामिनी जो कुछ नीच कर्म न करे वही थोड़ा है।

श्री क्षुल्लक महाराज मारिदत्त नृपसे और भी कहने लगे– राजन् ! उपरोक्त विचार करते यशोधर महाराज गोपवती, वीरवती, और रक्ता इन दुश्चारिणी स्त्रियों के चरित्र का स्मरण करने लगे।

गोपवती का चरित्र

किसी ग्राम में महाव्यभिचारिणी कुलटा गोपवती नामकी स्त्री निज भर्त्ता सहित वास करती थी। किसी समय भर्त्तार ने उसके चारित्र से व्याकुल होकर अन्य स्त्री के साथ पाणिग्रहण कर लिया इस रहस्य को जान वह दुष्टा अत्यन्त क्रोधयुक्त हुई। एक दिन नवविवाहिता भार्या सहित उसका भर्त्तार शयन कर रहा था, उसे देख उसने विषधारिणी सर्पिणी की भांति फुंकार करती, तीक्ष्ण तलवार से निज सपत्नीक 'शोक' का मस्तक काटकर किसी गुप्त स्थान में रख दिया।

जब भर्त्तार उस स्त्री की दग्धक्रिया से निश्चिंत होकर भोजन के अर्थ गोपवती के गृह में गया और वहां मृता स्त्री के शोक से

उदासमुख बैठा भोजन में अरूचि करने लगा, उस समय भर्त्तार की यह दशा देख गोपवती निज सपत्नी का मस्तक भर्त्तार के भोजन की थाली में रखकर कहने लगी कि इसका भक्षण कर। इस कृति को देख भयवान् होता भर्त्तार वहां से भागा, परन्तु उस दुष्टा राक्षसी ने भागने न दिया किन्तु तीक्ष्ण क्षुरिका से भर्त्तार का मस्तक काट लिया पश्चात् निश्चिंत होकर मनमाना व्यभिचार करने लगी इत्यादि।

वीरवती का चरित्र

एक सुदत्त नामके पुरुष वीरवती नाम की स्त्री से पाणिग्रहण करकुछ दिनों बाद उसे लेने को सुसराल में गया। वीरवती एक अंगाकार नामक चौर में आसक्त थी परन्तु सुदत्त के पहुंच जाने से उसे अंगारक के निकट जाने का अवसर नहीं मिलता था। इस कारण रात्रि दिवस छटपटाती रहती थी। एक दिन किसी अपराध वश श्मशान में अंगारक को शूली दी गई। इसकी सूचना यद्यपि वीरवती को हो गई थी परन्तु दिन में अवकाश मिलने से जब रात्रि समय उसका भर्त्तार निद्रा में घुर्राटे लेने लगा तब अर्द्धरात्रि को गुप्तरीति से निज प्रेमी के निकट पहुंचकर शूली के नीचे मृत पुरूषों की पेड़ी लगाकर उस पर खड़ी होकर उसका आलिंगन किया पश्चात् जिस समय अंगारक ने इसके अधरामृत का पान किया उसी समय उधर अंगारक के प्राणांत होने से उसकी दांती बंध गई।

इधर नीचे जो मृतकों की पेंड़ी बनाई थी वह खिसक गई इससे वीरवती का अधर कटकर अंगार के मुख में रह गया। पश्चात् वीरवती मुख छिपाकर जिस प्रकार गुप्त रीति से आई थी उसी भांति निज गृह में जाकर निज भर्त्तार के निकट लेट गई।

तत्पश्चात् उस दुष्टा व्यभिचारिणी ने युक्तिपूर्वक पुकार मचाई कि हाय हाय ! मेरे पति ने मेरे होंठ काट लिया। उसकी पुकार सुन समस्त परिवार के लोग एकत्रित हो गए। जब प्रातःकाल हुआ तब

राजदरबार में जाकर राजा को सर्व वृत्तान्त सुनाया। राजा ने तत्काल सुदत्त को दोषी समझ शूली चढ़ाने का आदेश दिया।

जब राज कर्मचारी सुदत्त को लेकर चलने लगे उस समय एक वीरभट नाम का पथिक जो कि वीरवती के दुश्चारित्र का पूर्ण मर्मी था उसने राजा से समस्त रहस्य निवेदन कर यह कहा,

श्री महाराज ! यदि मेरी बात असत्य समझे तो मृतकअंगारकका मुख देखा जाय उसमें वीरमती के भग्न ओष्ठका खण्ड अवश्य होगा। ऐसा सुनकर महाराज की आज्ञानुसार जब मृतक अंगारक का मुख देखा गया तो उसमें ओष्ठ खण्ड निकला पश्चात् नृपति ने वीरवती का दुश्चरित्र ज्ञात कर सुदत्त को मुक्त कर उसके स्थान में वीरवती को शूली देने का आदेश दिया।

उस समय समस्त लोगों ने कुलटा वीरवती का साहस देख अत्यन्त आश्चर्य किया कि देखो, इस दुष्टिनि ने अपने दुष्कर्म छिपाने के अर्थ निरपराध बेचारे सुदत्त को अपराधी ठहराया। परन्तु यह बात भी है कि निरन्तर सत्य की ही जय होती है और दुष्कर्मी असत्यवादी को योग्य दण्ड मिलता है। यदि ऐसा न होता तो असत्यवादियों की इतनी संख्या वृद्धिंगत हो जाय कि जिसका पारावार न रहे दुष्कर्मियों को अपराध के योग्य दण्ड मिल ही जाता है इस कारण अन्याय से भयभीत होकर अनेक लोग अन्याय से दूर रहते है।

रक्ता रानी की कथा

अयोध्या नगरी का अधिपति देवरति नामक राजा था। वह रक्ता नामकी रानी प्रति ऐसा आसक्त था कि समस्त राज्य कार्य छोड़कर अन्तःपुर में निवास करने लगा था। एक दिन राजमंत्री ने राजा से आकर कहा कि इस प्रकार आपके भोगासक्त होते हुए रनवास में रहने से समस्त प्रजा अन्याय में प्रवर्तने लगी है। सो या तो प्रजाजनों का न्याय कीजिये या गृह तज वनवास कीजिये।

वहीं आपके लिए समस्त भोग सामग्री एकत्रित कर दी जायेगी क्योंकि यहाँ रहने से सकल लोगों के हृदयों में अनेक प्रकार की वार्तायें उत्पन्न होती हैं और लोग अनेक प्रकार की गप्प मारते हुए अन्याय कार्य के प्रति उद्यत हो रहे हैं।

इस प्रकार मंत्री के वचन सुनकर रक्ता में आसक्त राजा वन में जाने को उद्यमी हो गया। नदी के तट पर जो कि महाराज का बड़ा बाग था वहां समस्त सामग्री एकत्रित कर वहीं निवास करने लगा।

उस राजा के वन में एक पंगु माली रहता था वह मिष्ट स्वर से गान अच्छा करता था। एक दिन उस पंगु माली का गाना सुनकर रक्तारानी उसके प्रति आसक्त–चित्त होकर उसे एकांत में बुलाकर कहने लगी–'मैं तुझ पर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। तू मेरे साथ भोग विलास कर और उत्तम प्रकार के नित्य भोजन किया कर।

ऐसा सुन पंगु ने कहा कि–स्वामिनी ! आपकी आज्ञा शिरोधारण करता हूं परन्तु महाराज के रहते यह काम मुझसे न हो सकेगा क्योंकि इसमें प्राणों का संशय है यदि कदाचित् राजा ने यह दुष्कर्म देख लिया तो हम और आप दोनों मारे जावेंगे।

इस प्रकार सुन रानी ने कहा तू इस बात से किचिंत् भी भय मत कर। क्योंकि मैने नृपति के मारने का उपाय प्रथम ही सोच रक्खा है, अब तू एक काम कर कि पुष्पों की माला तांत में पोहकर बना और अपने पास रख, जब हम मंगावें तब तू लाकर देना। ऐसा कहकर पंगुको तो विदा किया और आप उदास मुख बनाकर राजा के निकट जाकर रूदन करने लगी, तब राजा ने मधुर वाक्यों से पूछा–

. प्रिये प्राणवल्लभे ! तू आज रुदन क्यों करती है, इसका क्या कारण है ? ऐसा सुन रानी ने गद्गद स्वर से कहा प्राणेश ! आज आपकी जन्मगांठका दिवस है, जब नगरी में रहते थे तब वहा कैसा महान् उत्सव होता था, यदि आज नगरी में होते तो क्या वही उत्सव

न होता परन्तु उत्सव तो दूर रहा आप तो यहां नगरी से अति दूर सरिता तटपर निर्जन स्थान में वास करते हो।

ऐसा स्नेहपूर्ण रानी का वचन सुन राजा ने कहा प्राणेश्वरी ! यदि तेरी ऐसी ही इच्छा है तो यहां भी सब कुछ हो सकता है, क्योंकि प्रिय वस्तु का समागम होते निर्जन वन भी स्वर्गतुल्य है, जो करने की इच्छा हो वह करो।

ऐसा सुन रानी ने उत्तम प्रकार का आहार तैयार कर राजा सहित भक्षण किया पश्चात् विनोदपूर्वक सरिता तट पर बैठ विनोदपूर्वक तांत के सूत्र से बना हुआ फूलों का हार माली से मंगाकर हास्यपूर्वक राजा के गले में डाल तत्काल फांसी के फंदा से झटका देकर राजा को नदी में धकेल दिया।

नृपवर ! उस दुष्टिनी ने तो मृतक जानकर डाल ही दिया था परन्तु मैं आयुकर्म के योग से जीवित बच गया। किन्तु नदी के प्रवाह में बहता हुआ चम्पापुरी के बाह्य उद्यान में किसी प्रकार पार लगा, जैसा ही वहां से निकला कि वहाँ पर बैठै हुए पयादे राजा को लेकर चलने लगे।

प्रथम तो उसने जाना कि एक आपत्ति से निकला तो दूसरी विपत्ति में फंस गया, परन्तु उन किंकरों के कहने से मालूम हुआ कि वहां का राजा निःसन्तान मरण को प्राप्त हो गया। पश्चात् मंत्रियों और अन्य राज कर्मचारियों ने निमित्तज्ञानी से पूछा कि यहां का राजा कौन होगा ? तब निमित्तज्ञानी ने कहा कि एक अयोध्या नगरी का देवरत नामका राजा सरिता प्रवाह में बहता हुआ आवेगा वही इस राज्यासन प्रति आरूढ़ होकर प्रजा का पालन करेगा।

इस प्रकार निमित्तज्ञानी के कथनानुसार हम लोग यहां बैठे थे सो आपको ले चलकर राज्यगद्दी पर बैठावेंगे, ऐसा सुन चित्त में सन्तोषित हुआ, पश्चात् अभिषेक पूर्वक वहां का राजा बन, न्यायपूर्वक राज्य करने लगा; परन्तु स्त्री के नाम से ऐसा विरक्त हो गया कि उसका नाम भी नहीं रुचता था।

नरेश ! वह रक्ता नृपको नदी में पटक आप निर्भय होती उस पंगु केसाथ स्वेच्छापूर्वक रमण करने लगी। पश्चात् निज प्राण–वल्लभं पंगु को कंधों पर धारण कर घूमने लगी। पंगु निज गान विद्या से लोगों को रंजायमान कर पैसा वसूल करता था।

उस समय दुष्टा की कृति से उसका सतीत्व प्रगट हुआ अर्थात् जो देखता था वही अपने मुख से उसकी इस प्रकार प्रशंसा करता था कि देखो अपने स्वामी को कंधों पर चढ़ाये फिरती है।

इसी प्रकार घूमती फिरती चम्पापुरी में पहुंची। वहां पंगु के गाने की और रक्ता के सतीत्व की प्रशंसा समस्त नगर में फैल गई तब एक समय राजमंत्रियों ने राजा से उसकी प्रशंसा की तो उसे सुन राजा ने कहा–

यद्यपि मैं स्त्री के नाम से अत्यन्त विरक्त हूं तथापि तुम लोगों के कहने से पर्दाके अन्दर से उसका गाना सुन लूंगा ऐसा कहकर जैसा ही उसका गाना सुना कि तत्काल मालुम हो गया कि यह वही दुष्टिनी रक्ता रानी निज प्रेमी को कन्धों पर धारण करती निज सतीत्व को प्रगट करती है।

तत्पश्चात् राजा को इस दुष्टा के चरित्र से हृदय में वैराग्य उत्पन्न हो जाने से जिन दीक्षा से दीक्षित होकर महातप में तत्पर हो गया। स्त्रियों का चरित्र अगाध है इत्यादि।

मारिदत्त महाराज से क्षुल्लक महाराज पुनः कहने लगे– राजन् ! इस प्रकार व्यभिचारिणी स्त्रियों के दुश्चारित्र का चिंतवन करते यावत् शयनस्थ हो रहे थे, तावत् वह पसेव से आर्द्रित शरीर जारिणी अमृतादेवी निज प्रेमी कूबड़ा से रमण कर म्लान मुखी होकर मेरे भुजपंजर में प्रवेश करती मुझे ऐसी ज्ञात हुई मानो विषपूर्ण सर्पिणी ही है। अथवा मृतक भक्षिणी डाकिनी ही मेरे निकट आई है।

नृपवर ! उस समय यद्यपि वह मेरे निकट शयनस्थ हो रही थी। तथापि मैं निज हृदय में यह चिंतवन करने लगा कि जैसे खाज खुजाने में सुख होकर पश्चात् दुखित करता है उसी प्रकार विषय सेवन में सुख होता है। जो आभरणों का भार है वह सर्व गात्र को दमन करता और नृत्य आहार को दमन करता है। जो शरीर की लावण्यता है वह अशुचि रस को उत्पन्न करने वाली है।

जो स्नेह का बंधन है वह दुःख का कारण है। गान विद्या का प्रकाश है वह गाने के छल से बिरही होता हुआ रुंदन करता है। जो प्रिय संभाषण है वह मर्म को तोड़ने वाला है। जो स्त्री के रूपादिक का अवलोकन है वह काम ज्वर का बढ़ाने वाला है। प्रिया का आलिंगन है वह शरीर को पीड़ा करने वाला है।

जो स्त्री के निरन्तर अनुबन्ध में राग है वह दुःखपूरित कारागार है और जो प्रेम है वह ईर्ष्या की अग्नि है, उसमें दग्ध होता हुआ पुरूष आकुलित होता है और स्त्री सेवनादि किया से उत्पन्न हुआ काम है वह स्त्रियों के हाथ का तीक्ष्ण कृपाण है। उसी के द्वारा दुष्टा व्यभिचारिणी परपुरूषरता वनिता निज पति का घातकर पश्चात् आप भी मरण को प्राप्त होकर संसार वन में परिभ्रमण करती है। इत्यादि और भी विचारने लगे।

जो जीवको बाधाकारक विस्तीर्ण और उत्कृष्ट दुष्कृत्य का घर तथा गरिष्ट दुःख है उस इंद्रिय जनित सुख का पंडित जन कैसे सेवन करें ? कदापि नहीं करते।

पृथ्वीनाथ ! यशोधर महाराज शयनस्थ हुए और भी विचारने लगे– यह जो मनुष्य का शरीर है वह रोगों का स्थान है क्योंकि यह शरीर धोया हुआ पवित्र नहीं होता, सुगन्धित किये सौरभित नहीं होता किन्तु शरीर के संसर्ग से उत्तम सुगंधित पदार्थ भी दुर्गंधमय हो जाता है।

यह क्षणभंगुर शरीर पुष्ट किया हुआ भी बलवान् नहीं होता, प्रसन्न किया हुआ अपना नहीं होता। मंडन किया हुआ विवर्ण हो

जाता है। भूषित किया हुआ भी अशोभन रहता है। अनेक प्रकार उवटन किया हुआ भी मरण से भयभीत रहता है, दीक्षा से दीक्षित किया हुआ क्षुधा के अर्थ अनेक प्रयत्न करता है, अनेक उत्तम शिक्षा देते हुए भी धर्म से विमुख रहता है।

यह नाशवान् गात्र तैलादि मर्दन करते हुए भी रुक्ष रहता है, पथ्य सेवन करते हुये भी प्रचुर रोग से ग्रसित हो जाता है, अल्पाहार करने पर भी अजीर्ण से व्याप्त हो जाता है, वातनाशक तैलादिक मर्दन किया हुआ भी वातव्याधि से भी पीड़ित होता है, रुक्ष और तीक्ष्ण पदार्थों के सेवन से भी कफ कर व्याकुल रहता अनेक प्रकार प्रक्षालन किया हुआ भी कुष्ट से गलित होता है।

बहुत कहां तक विचार करना यह शरीर अनेक प्रकार रक्षित किया हुआ भी यमराज के मुख का ग्रास बन जाता है। यद्यपि यह शरीर उपरोक्त प्रकार से विपरीत प्रवर्त्तमान होता है तथापि रागी पुरूष इस शरीर के अर्थ अनेक प्रकार के पापकर्मों में तत्पर होता है।

इस प्रकार मुझ सरीखा मूर्ख मनुष्य निज स्त्री के वश पाप कर्म करता और गृह व्यापार में संलग्न होता मरकर नरक में जाता है।

इस प्रकार चिंतवन करते यशोधर महाराज और भी विचार करने लगे कि इस शरीर की यह अवस्था है और जिसके अर्थ अनेक पाप कर्म करता हूं उस प्रियतमा की यह दशा है तो अब मुझे भी समस्य कार्यों को त्यागना चाहिये इससे अब प्रभात होते ही नगर परिवार और राजलक्ष्मी का त्याग कर गहन वन और सघन पर्वतों की गुफाओं का आश्रय करूँ तथा देवेन्द्र धरणेन्द्र और नरेन्द्रोंकर पूज्य मुनि–लिंग धारण कर महातप का आचरण करूँगा।

धरानाथ ! इसी प्रकार चिंतवन करते–करते प्रभात हो गया। उस समय दिवाकर अपनी रक्त किरणों के समूह युक्त उदय होता अशोक वृक्ष के नवीन पत्र की भांति सुशोभित होता था।

राजन् ! वह दिवानाथ उदय समय ऐसा दृष्टिगत होता था मानों आकाश देवी ने लोकजनों के रंजित करने को सिंदूर का तिलक ही धारण किया है। वह दिनपति तीनलोक को प्रकाशित करता कैसा ज्ञात होता था मानों आकाश देवी ने उदयाचल के रत्न विनिर्मित छत्र ही धारण किया है अथवा दिशारूप कान्तिनी के कुंकुमका समूह ही है।

पृथ्वीपति ! वह अर्थ उदय होता भास्कर मुझ विरक्त हृदय ने कैसा जाना मानों जगज्जन भक्षक यमराज का घुमाया हुआ चक्र ही है। उस समय प्रभात सम्बन्धी वादित्रों के मांगलिक शब्द श्रवण कर सेज से उठा पश्चात् स्नानादि नित्य क्रिया से निश्चिंत होकर मैंने ऐसा चिंतवन किया जब कि मैंने इस शरीर से ही ममत्व छोड़ा तो इन रत्नजड़ित आभूषणों और बहुमूल्य वस्त्रों से क्या प्रयोजन है ?

इस शरीर संस्कार से काम की वृद्धि होती है जिस कामदेव का फल मुझे प्रत्यक्ष मिल चुका है। इस कारण इनका धारण करना सर्वथा अनुचित है। एवं चिंतवन कर जैसे ही समस्त आभूषण कुटुंबियों को देने के अर्थ उद्यम किया तैसे ही दूसरा विचार उपस्थित होने लगा।

श्रीमान् मैंने क्या विचार किया कि यदि इस समय सकल आभूषण दूर कर दूंगा तो समस्त अन्त'पुर में यह वार्ता विस्तरित हो जायगी कि महाराज ने कुछ भी अमनोज्ञ देखा है, इस कारण उदास चित्त होकर आभूषणों का त्याग किया है। तथा मेरी सभावर्ती पंडित मण्डली समस्त अभिप्रायों की ज्ञाता है, उससे यह भेद किसी प्रकार गुप्त नहीं रह सकता।

इसके सिवाय यही वार्त्ता अनेक रूप धारण कर समस्त नगर में फैल जायगी। इससे प्रजाजनों के चित्तों में अनेक प्रकार के विचार उत्पन्न होने लगेंगे तिस पर भी जो कहीं अमृतादेवी इस रहस्य की ज्ञाता हो जायगी तो आप मरेगी और मेरे नाश का

षड्यंत्र रचेगी इत्यादि पूर्वापर विचार कर मैंने पूर्ववत् सर्व वस्त्राभूषण धारण किये। वे मुझे ऐसे ज्ञात होते थे मानों समस्त दुःखों के समूह ही मेरे सर्व गात्र में लिप्त हो रहे हैं।

राजन् ! सर्व शुभाशुभ, जीवन, मरण, लाभ, अलाभ, सुख दुख और शत्रुकृत घात के ज्ञाता जो विपुल बुद्धि के धारक तथा समस्त ऋद्धि समूह जिन के हस्तगत हुआ है, ऐसे योगीश्वर भी स्त्रियों के चारित्र को नहीं जान सकते तो अन्य पुरूषों की कथा ही क्या है ?

हाथी बाँधे जाते हैं, सिंह रोके जाते हैं और संग्राम में प्रबल शत्रु भी जीते जाते हैं परन्तु पर पुरूषासक्त स्त्री के चित्त को कोई भी ग्रहण नहीं कर सकता।

नृपवर ! इस प्रकार चिंतवन कर मैं (यशोधर नृप) निज हृदय में उदास भाव धारण करता सभा में गया। वहाँ रत्नजड़ित सिंहासन पर उपस्थित हुआ।

उस समय दोनों पार्श्वों में खड़े पुरूष चमरढ़ारते थे, सभा मण्डप में नृत्य कारिणी नृत्य करती थीं, नर्त्तकगण अनेक कौतुक करते थे। वीणा, बांसुरी, मृदंग आदि वादित्रों की गुँजार हो रही थी, एक तरफ चारण भाटगण प्रभात की स्तुति करते थे।

राजन् ! उस समयका समस्त समाज यद्यपि सुखकर था तथापि मुझ (यशोधर नृप) को दुःखकर ज्ञात होता था।

नृपेश ! उस समय विद्वान् पंडितों ने सरल कथा का प्रारम्भ किया जिससे मेरे चित्त में हर्ष उत्पन्न होने लगा।

उसी अवसर में रत्न सुवर्ण निर्मित दण्ड मंडित कर वाले चोपदारों ने पर मण्डल के नृपगण मन्त्री भट आदिका सभा में प्रवेश करवाया। उन सबों ने अपने मुकुटगत मणियों की प्रभा से धरातल को प्रकाशित कर मुझे नमस्कार किया।

पश्चात् चोपदारों ने सबको यथास्थान स्थापित किया। यद्यपि उस समय का अपूर्व दृश्य था, परन्तु मुझ विरागी को किंचित् भी रूचिकर न हुआ।

महाराज मारिदत्त ! उपर्युक्त समाज सहित सभा मण्डप में सुकवि के काव्य सदृश मेरी माता चन्द्रमती का शुभागमन हुआ। उस समय मैंने तपश्चरण का उपाय चित्त में धारण कर मिथ्या स्वप्न का वृत्तांत माता से निवेदन किया।

मैंने कहा–हे मात ! आज रात्रि समय शयनावस्था में मैंने एक भयानक स्वप्न देखा अर्थात् विकराल, दुष्ट, रक्तनेत्र, श्यामगात्र, एक महा भयानक विकराल वदन पुरूष हाथ में दण्ड लिए मेरे सम्मुख खड़ा हुआ कहता है कि तू जिनराज की दीक्षा शीघ्र ग्रहण कर नहीं तो तुझे तेरी तलवार सहित नष्ट कर यमपुर को पहुँचाऊँगा, ऐसा कहकर वह तत्काल अदृश्य हो गया।

नृपवर ! मैंने और भी मातुश्री से कहा–माता, वह भीममूर्ति मेरे नेत्रों के सम्मुख नृत्य कर रही है इससे कुछ भी मुझे अच्छा नहीं लगता। किसकी पृथ्वी और किसका राज्य, किसकी स्त्री, किसका पुत्र, मुझे किसी से कुछ प्रयोजन नहीं हैं।

राजा यशोधर का वैराग्य

अब तो केवल आत्मकल्याण ही इष्ट है इससे समस्त परिग्रह का त्याग कर दुःसह इंद्रियों के बल का विजय करूंगा और जिन दीक्षा धारण कर महा तप तपूँगा।

हे मात ! रात्रि समय जो मैंने निकृष्ट स्वप्न देखा है इससे यही निश्चित किया है कि निश्चिल बुद्धि जो यशोमति नामका पुत्र है उसे स्थापन कर राज्येश करना योग्य है।

जननी ! दुष्ट स्वप्न की शांति के अर्थ जिन दीक्षा ग्रहण करने के सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं। ऐसा सुन मुनि गुण घातिनी और मिथ्यात्व विष दूषित मेरी (यशोधरी) माता कहने लगी।

चंद्रमति–पुत्र ! चिंतित मनोरथ और समस्त आशाओं को पूरनेवाली कुलदेवता (चंडमारी) के अर्थ समस्त जीवों के युगल बलि

देने से दुःख क्लेश कलह और दुःस्वप्न आदि समस्त कष्ट शाँत होते हैं तो तेरे भी शांति अवश्य होगी। इस कारण हे सुत ! तू भी कुलदेवता की सेवा में तल्लीन होकर शांति कर्म करने का उपाय कर।

क्षुल्लक महाराज कहते हैं–अहो राजन् ! मारिदत्त ! जिस समय मेरी माता ने दयारहित उपर्युक्त वचन कहे उस समय करुणाकर कम्पितहृदय यशोधर नृप (मैं) इस प्रकार कहने लगा–

यशोधर नृप–अहो जननि ! हे भट्टारिके ! महापाप का कारण प्राणियों का बध किस प्रकार करना उचित है ! क्योंकि जीव हिंसा समान न कोई पाप हुआ न है और न होगा। जो पर जीव का विपरीत चिंतवन कर अपनी रक्षा की इच्छा करता है वह अग्नि से शीतल होना चाहता है।

यह तो प्रत्यक्ष है कि जो दूसरे का उपकार करता है उसी का भला होता है और जो अन्य का बुरा करता है उसका बुरा ही होता है। उसका भला तीन काल में भी नहीं हो सकता; क्योंकि जीव वध में प्रत्यक्ष पाप है और पाप का फल दुःख है तो इससे शांति किस प्रकार होगी ? कदापि नहीं होगी !

मातुश्री ! जो जीव का घातक होता है वह उस जीव द्वारा अनेक प्रकार घाता जाता है इस कारण पापरूपी नौका में बैठ कर विघ्नरूपी सरिता के पार किस प्रकार हो सकता है ?

इसके सिवाय एक बात और भी है कि यदि जीव वध में ही धर्म होय और इसी से विघ्नों की शांति हो जाय तो पाप किस कार्य में होगा।

इस बात को समस्त मतवाले मानते हैं और यही वाक्य नित्य उच्चारण करते है कि "अहिंसा परमो धर्मः" इस वाक्य के बहिर्भूत कोई नहीं फिर 'जीव वध में धर्म होता है" ऐसा कहने वाला कौन होगा ?

इस लोक में और परलोक में जीवहिंसा भयकारी है अतः दुःखकर भी न देखा जाय। ऐसे आयु के क्षय में निश्चय कर चंडमारी देवी क्या कर सकती है ?

मात ! पूर्व समय में असंख्य महापुरूष काल के ग्रास होकर परलोकवासी हो गये सो क्या उस समय चंडमारी देवी नहीं थी या नैवेद्य और पशुओं के समूह नहीं थे अथवा मद्यमांस का सरस भक्षण नहीं था या इस रीति के ज्ञाता नहीं थे जो कि चंडमारी को पशु तथा मद्य आदि की बलि देकर उसे संतुष्ट कर लेते और मरणसे बच जाते ?

इससे यही निश्चय होता है कि चंडमारी में यह शक्ति नहीं कि किसी जीव को काल से बचा सके और उसको शांतिप्रदान कर सके।

संसार में यावन्मात्र जीव समूह हैं वे अपने–अपने कर्मों के आधीन सुख दुःख का भोग करते हैं, कोई भी किसी का न उपकार करता है किन्तु शुभाशुभ कर्म ही उपकार और अपकार का कर्त्ता होता है।

राजन् ! इस प्रकार यशोधर नृप के (मेरे) वचन सुन माता चन्द्रमती पुनः कहने लगी–

चन्द्रमति–प्रिय पुत्र ! समस्त जगत में धर्मरूप वृक्ष का मूल वेद है इस कारण वेद द्वारा संपादित जो मार्ग है राजाओं को उसी का पथिक बनना उचित है और वेद में देवता के अर्थ पशुओं का घात करना प्रशंसनीय और पूज्य वर्णन किया है इसी से जीव वध पुण्य माना है और इसके करने वाले महापुरूष स्वर्ग के अधिकारी माने गए है।

जो पशु का घात करता है और मांस का भक्षण करता है वह स्वर्ग और मोक्ष प्रति गमन करता है एवं जैसा ब्रह्माने वर्णन किया है, उसी प्रकार विपुलमति के धारक सुरगुरु तथा भैरवाचार्य प्रतिपादन करते हैं।

राजन् ! मेरी माता ने इस प्रकार कहकर और भी कहा– प्रियपुत्र ! उपर्युक्त कथनानुसार कुलदेवता (चंडमारी) के अर्थ पशुओं की बलिप्रदान कर शांति स्थापन कर। इसी से तेरे कांति तुष्टि पुष्टि होकर उज्ज्वलनेत्रा विजयलक्ष्मी तेरे हृदय में वास करेंगी।

पुत्रवर ! उस महादेवी के सन्मुख जीवों का हवन करने से तेरे समस्त शत्रुगण त्रासयुक्त होते हुए तेरे चरणों को नमस्कार करेंगे और तेरा शुभ्रयश दिगंतरों में विस्तृत हो जायेगा।

क्षुल्लक महाराज कहने लगे- राजन् ! मारिदत्त यशोधर की (मेरी) माता उपरोक्त उपदेश देकर जब मौनस्थ हो गई तब मैंने (यशोधर महाराज ने) पुनः कहना आरम्भ किया–

यशोधर- प्रिये माता ! तूने जो कुछ कहा वह सर्व अनुचित और मिथ्या है क्योंकि जो हिंसा मार्ग के प्ररूपक, हिंसा के प्रणेता और हिंसा उपदेश के श्रोता हैं वे महा घोरतर पाप के करने वाले महापापी हैं और जो पुरूष तीक्ष्ण खड्ग की धारा से पशुओं का घात करते हैं वे निकृष्ट और पापिष्ट हैं। जो पुरूष दीन पशुओं को बन्धन में डालकर त्रासित करते हैं, उनका वधकर उनके मांस का भक्षण करते हैं तथा मद्यपान कर देवता की भक्ति में लीन होकर नृत्य करते हैं, गान करते हैं और वादित्र बजाते हैं वे महापाप के योग से रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूम्रप्रभा, तमप्रभा और महातमप्रभा, इन सातों नरकों की पृथ्वी में उत्पन्न होकर ताड़न, मारण, शूली रोहण आदि असंख्य कष्टों के पात्र बनते हैं और जब वहां से निकलकर हिंसक तिर्यंच होकर अतिरौद्र दुख रूप कुयोनियों में भ्रमण कर किसी पुण्य योग से यदि मनुष्य पर्याय धारण करते हैं तो क्षुधावन्त, मूक, खल्वाट, पंगु, बधिर, नेत्रविहीन, निर्बल, दीन, दरिद्री, दुःख से पीड़ित, क्षीणगात्र, निष्काम (नपुंसक), शक्तिहीन, तेज रहित, अविवेकी, गौ आदि पशुओं के घातक, चाण्डाल,

नीच कर्म से आजीविका करने वाले, धीवर, कलाल हसिक, क्रूर परिणामी होते हैं।

पश्चात् मरण प्राप्त होकर सिंह, शार्दूल, मार्जार आदि पशु तथा सर्प, गृद्ध आदि पक्षियों की योनियों में भ्रमण कर महा घोर वेदना भोगते हैं।

पशुओं के वध करने से और परकी हिंसा से यदि धर्म उत्पन्न होता होय तो बहुगुणी और मुक्त मुनियों को पापी जीव क्यों नमस्कार करते हैं ?

यशोधर महाराज निज माता से और भी कहने लगे

यदि मन्त्र संस्कार पूर्वक तीक्ष्ण खड्ग की धारा से पशुओं का वध करो, दिशाओं में बलि प्रदान कर अग्नि में हवन करो, देवगण औरे पितृजनों का तर्पण करो, मुँड मुड़ाकर कषायले रक्त वस्त्र धारण करो, अनेक सरिताओं सरोवरों में स्नान कर राखलिप्त गात्र करो, गर्व से उत्कट जटा धारण करो, इन्द्रियों का दमन कर पंचाग्नि तपो, धूम्रपान करो, नग्न मुद्रा धारण करो, वन पर्वत और कंदराओं में बास करो, आतापन चान्द्रायण और शुद्धोदनादि व्रतों का चिरकाल पर्यंत धारण करो, इत्यादि और अनेक दुर्द्धर तपों का आचरण करो, परन्तु जीवदया बिना समस्त कार्य केवल निष्फल ही नहीं है, किन्तु उनके धारक घोर वेदनायुक्त नरकों के कष्टों को सहनकर अनन्त काल पर्यंत भ्रमण करते हैं।

राजन् ! कोटि शास्त्रों का सार यही है कि जो पाप है वह हिंसा में है और जो धर्म में है वह जीवदया है।

इस प्रकार होते हुए अरिहंत भगवान ने जो नयों का प्रति–पादन किया उसे न करते मदगर्भित जीवों कर जीवों का संघात होता है।

जो पुरुष जीव का संहार करता है वह अनेक जन्मों में अनेक रोगों से ग्रसित होता बहुत भार का वहने वाला होता है। जो पर

जीव को ताड़न मारणादि कष्ट देता है वह अनेक भवों में अनेक दुःखों का भोक्ता होता है।

इत्यादि कहते हुए मैंने कहा कि मात ! मैं भी तो अमर नहीं फिर इस नाशवान् शरीर के निमित्त किस प्रकार पर जीव का घात किया जाय ! ऐसा कहकर तीक्ष्ण खड्ग म्यान से निकाल जैसे ही कुण्डल मुकुटयुक्त निज मस्तक के भग्न करने का आरम्भ किया था कि मेरी माता के हाहाकार शब्द करने पर निकट तिष्ठे हुए नर–रत्नों ने मेरा खड्ग पकड़ लिया !

तत्पश्चात् वृद्धा माता चंद्रमति ने मेरे चरणों में पड़कर कहा– हे पुत्ररत्न ! मैंने यथार्थ में असत्य कहा, परन्तु जीव चेतनतत्व गुण विशिष्ट है और शरीर अचेतन है इस कारण शरीर का घात करने से पौद्गलिक शरीर को इस बात का बोध नहीं होता कि मैं भग्न किया जाता हूँ अथवा मेरे शरीर में किसी प्रकार की पीड़ा होती है इसके सिवाय शरीर के नाश होने में नित्य आत्मा का नाश नहीं होता।

इस कारण हे पुत्र ? अपने कुल क्रम से चला आया जो मार्ग है उसे स्वीकार करना ही सर्वथा उचित है। इत्यादि चरणों में पड़ी माता ने ऐसा कहा, तब मैने कहा कि हे माता ! इस कार्य में यद्यपि अधर्म है तथापि तेरी आज्ञा का प्रतिपालन करूँगा, पश्चात तपश्चरण धारण करूँगा ऐसा जब मैंने कहा तब माता चन्द्रमति मेरे चरणों पर से मस्तक उठाकर सहर्ष तिष्ठी।

तत्पश्चात् लेपकार को बुलाकर पिष्ट निर्मित कुर्कट के लानेका आदेश किया।

मेरी माता ने जिस काल हास्य पूर्वक लेपकार {चितेरे} से कुर्कुट लाने को कहा वह तत्काल {चितेरे} पिट्ठी से बना हुआ उत्कट वर्ण का धारक कुर्कुट {मुर्गा} ले आया।

क्षुल्लक महाराज मारिदत्त नृप से और भी कहने लगे–

राजन् ! उस कुर्कुट का रूप रंग ऐसा मनोज्ञ दृष्टिगत होता था, मानो अपने उत्कटवर्ण युक्त पक्षों से अभी गगन मार्ग से उड़ा जाता है। वह कूकड़ा गर्दन उठाये चंचु खोले ऐसा ज्ञात होता था, मानो प्रातः कालीन शब्दों का उच्चारण कर समस्त लोगों को जागृत ही करता है।

नृपवर ! उस चित्रकार ने ऐसा उत्तम यथास्थानीय रंग देकर मुर्गा बनाया था कि जिसके देखने से कोई नहीं कह सकता कि यह कृत्रिम कुर्कुट है किन्तु विधाता की चित्रकारी की उत्तमता ज्ञात होती थी।

महाराजाधिराज ! जिस समय मेरी दृष्टि का और उस कूकड़े का सम्बन्ध हुआ, उसी समय मेरी माता के आदेश से पटह, ढोल, मृदंग, शंख, मादम, काहल, वांसुरी, और झांझ आदि वादित्रों के शब्द से गगनांगण पूरित होने लगा तथा अनेक प्रकार के वृक्षों के सुगन्धित पुष्पों का समूह दधि दूर्वा (दूव) चन्दन आदि सामग्री एकत्रित हो गई।

राजन् ! उस समय मेरी माता ने मुझ से कहा कि प्रिय पुत्र? अब विलम्ब का समय नहीं, शीघ्र ही कुल देवता के अर्थ बलि प्रदान करना चाहिये।

इस प्रकार माता की आज्ञानुसार उठकर समस्त मण्डली तथा पूजन करने वाले विप्रों के समूह सहित महोत्सव पूर्वक कुल देवता के मंदिर प्रति पहुँचे।

वहां हम दोनों माता पुत्रों ने देवी की प्रदक्षिणा देकर उपयुक्त सामग्री से देवी का पूजन किया

पश्चात् देवी के ऊपर पिष्ट निर्मित्त कुर्कुट का उत्तारण कर कुलदेवी के अग्रभाग में तीक्ष्ण छुरिका से उसका घात कर कुकड़े के भीतर से निकले हुए आरक्तवर्ण जल में रूधिर का संकल्प कर

देवी के गात्र का सिंचन किया और पिष्ट निर्मित्त शरीर में मांस की कल्पना कर देवी सन्मुख चढ़ा दिया। तत्पश्चात् हम दोनों माता पुत्रों ने हाथ जोड़कर देवी से प्रार्थना की कि–

हे माता ! यह अपूर्ण कार्य पूर्ण होवे, इस प्रकार तीन बार कहने के उपरांत समस्त पुजारी विप्रों ने घृत, शहद आदि वस्तुयें मिश्रित कर सबको बांट दिया सो हम सबने तथा ब्राह्मणों ने मांस ज्ञातकर माता के प्रसाद का भक्षण किया।

वही संकल्पी हिंसा और कल्पना मात्र मांस भक्षण से जो पाप का बंध हुआ वह वचन अगोचर है।

राजन् ! तदुपरांत समीचीन भाव से योगिनी (देवी) को नमस्कार कर मैंने कहा–हे माता ? तुझे देखकर संतुष्टता से मनुष्य संताप से मुक्त हो जाता है।

पृथ्वीनाथ ! मैंने योगिनी से और प्रार्थना की–हे देवी ! तेरी कृपा से मुझे जंघाबल, बाहुबल और मेरा अचल जीवितव्य होवे । हे सुरेश्वरी ! महान् अरण्य, अति कष्ट और प्रिय वियोग में मेरी रक्षा करो।

इस प्रकार विज्ञप्ति करता देवी की शरण में प्राप्त हुआ परन्तु निकट आए हुए मरण का किंचित् भी ज्ञान न हुआ।

तत्पश्चात् हर्ष पूर्वक निज मन्दिर प्रति जाकर निज पुत्र का सुवर्ण के कलशों से अभिषेक कराकर उसे राज्यासन पर स्थापित किया।

नृपेश ! जिस समय मैं समस्त कार्यों से निश्चित् होकर तपोवन को उद्यत हुआ ही था कि इतने में अमृतमयी कांता ने अपना संकल्प दृढ़ किया अर्थात् वह निज हृदय में विचारने लगी कि रात्रि समय कूबड़ा के साथ जो क्रिया की वह स्वामी को ज्ञात हो गई इसी से सामन्त, मंत्री आदि परिका और समुद्रान्त पृथ्वी का

राज्य त्यागकर तप़श्चरण की इच्छा करता है क्योंकि मैंने महाराज के मन का भाव उनके शरीर की आकृति से जात किया है।

जैसे सुन्दर पत्रों सहित बल्लरी पुष्पों से ज्ञात होती है कि इसमें फल होयेंगे इसी प्रकार अखंड शरीर के लक्षणों से दूसरे का हृदय भी जाना जाता है।

इस प्रकार चिंतवन करती अमृतादेवी निज हृदय में दृढ़ संकल्प कर मेरे निकट आकर कहने लगी–

अमृतादेवी- स्वामिन् ! आपने जो दीक्षा ग्रहण करने का दृढ़ संकल्प किया है वह अति उत्तम है परन्तु मेरी एक प्रार्थना है उसे सहर्ष स्वीकार करें पश्चात् तपोवन को प्रयाण कीजिये।

प्राणेश्वर ! (चरणो में पड़कर) आपकी मंगल कामना के निमित्त समस्त अन्तःपुर और नगर निवासी जनों को निमंत्रित किया है सो आप भी देवता के प्रसाद का भोजन ग्रहण कीजिये पुनः मैं और आप दोनों ही जिन दीक्षा ग्रहण करेंगें क्योकि आपके बिना मैं इस जीतव्य को कहां और किस प्रकार धारण करूंगी ?

प्राणनाथ ! आजदिन और गृह में तिष्ठो, प्रातःकाल ही जैसे कामदेव के रति, इन्द्र के शची, नारायण के लक्ष्मी, रामचन्द्र के सीता और महामुनि के शुद्ध बुद्धि अनुगामिनी होती है उसी प्रकार आपके चरणों की दासी आपके पश्चात् तपोवन को गमन करेगी !

नाथ ! आपके साथ ही मैं भी तपश्चरण धारण करूंगी, यम नियम का पालन करूंगी । प्रियतम ! आपके बिना समस्त जन मेरे यौवन को अंगुली उठाकर देखेंगे अर्थात सर्व लोक ऐसा कहेंगे कि जिसका पति तो समस्त परिग्रह का त्यागकर वनवासी हो गया और यह गृह मे निवास करती सुख भोग कर रही है !

मारिदत्त महाराज से क्षुल्लक महाराज और कहने लगे' राजन! भवितव्य बडा बलवान है क्योंकि मेरे चरणों में पड़ी अमृतादेवी के

स्नेह पूर्ण वाक्यों को सुनकर यद्यपि मेरा विरक्त चित्त हो गया था तथापि भवितव्यानुसार पुनः उसके प्रेम की पाश में मैं बंध गया ।

नृपवर ! उस समय में पुनः ज्ञाननेत्र विहीन होकर उस पर पुरूषासक्त दुष्टिनी के रात्रिकृत कर्म को स्वप्न सदृश ज्ञात करने लगा।

तत्पश्चात् चरणों में पड़ी हुई अमृता के कोमल करकमल को ग्रहण करने लगा कि प्रिये उठ ,मैं तेरी इच्छा पूर्ण करूँगा। ऐसा सुनकर वह कपटवेषा प्रफुल्ल वदना हास्य पूर्वक रसोईदार को उत्तमोत्तम भोजन की आज्ञा देकर कहने लगी कि अब भोजनों में क्या विलंब है शीघ्रतर तैयारी करो। ऐसासुन रसोईदार ने कहा–

रसोईदार (हाथ जोड़कर) स्वामिनी ! भोजन तैयार है किंतु श्री महाराज के पधारने का ही केवल विलम्ब है।

इस प्रकार रसोईदार के वचन सुन हर्षित चित्त होती मुझसे कहने लगी

प्राणपति ! रसोई तैयार है, जीमने के अर्थ शीघ्र पधारिये क्योंकि जब आपके भोजन हो जावेंगे तब अन्य लोगों को जिमाऊंगी।

महाराज मारिदत्त ! इस प्रकार प्रेमपूर्ण अमृतादेवी के वचन सुन हर्षित चित्त होता, बंदीजनों के विरद सति कर्मों का प्रेरा अमृता के महल प्रति गमन करता भया। वहां पंचवर्ण की ध्वजाओंसे पूर्ण स्फटिक भूमि में सुकोमल उज्ज्वल आसन पर माता सहित तिष्ठा। उस समय मेरे सन्मुख रक्खे हुए लघु पात्र सहित सुवर्ण का थाल ऐसा प्राणनाथ ! दृष्टिगत होने लगा, मानों ताराओं के समूह युक्त आकाश मण्डल ही है।

उस कनकमय थालों में सरस व्यंजन समूह सुकवि के काव्य की भांति सरसअति मनोज्ञ दीखने लगे, तथा भोजन समयकी सभा भी काव्य की भांति रसवती भासती थी।

वह अति कोमल सरस निर्मल और धवल एवं उत्तम ईदन (भात) का भोजन गुणलोपी (कृतघ्नी) की भांति देखा ।

उस समय नवीन कंचनवर्ण तुषरहित और दो खण्ड की दाल मेरे थाल में रक्खी ऐसे ज्ञात होने लगी, मानो खण्ड किये हुये यमराज के बाण ही हैं।

राजन ! उस रसोईदार ने तपा हुआ घृत, दुग्ध और उत्तम दधि मेरे थाल में क्षेपण किया, सो वह ऐसा दीखने लगा मानों दुष्ट ग्रहिणी के संगम में यमपुर का मार्ग ही एकत्रित हुआ।

तत्पश्चात् परमण्डलोक राजाओं की भांति मेरे घातक सुगोल मोदक भी दिये गए, वे तीव्र विषयुक्त मोदक उसी अमृतादेवी ने प्रेमपूर्वक मुझे दिये।

उसने कहा–स्वामिन् प्राणनाथ ! ये मोदक मेरी माताने भेजे थे सो मैंने आपके भोजनार्थ रख छोडे थे, आज आपको अर्पण करती हूँ सो आप सबसे प्रथम इन अमृतमयी अति स्वादिष्ट मोदकों का स्वाद लीजिए। तदनंतर अनेक मसालों सहित तीक्ष्ण खड्ग की भांति शाक भी परोसे गए।

नृपवर ! मैं दुष्टा भार्या के चरित्र से यद्यपि विरक्त चित्त था परन्तु पुनः उसकी स्नेहपूरित मोहनी बातों में मोहित होकर ज्ञान शून्य होगया ।

उस समय मुझे किंचित भी विचार न रहा अर्थात् समस्त उत्तम व्यंजनों को छोड प्रथम मोदकों का ही भक्षण हम दोनों माता पुत्रों ने किया।

तत्काल ही उस तीव्र विष की वेदना से दोनों का शरीर घूमने लगा। जब मैंने जान लिया कि इसमें तीक्ष्ण हलाहल है जब मेरे मुख से वैद्य वैद्य शीघ्र बुलाओ, इतना ही शब्द निकला था कि तत्काल मूर्छित हो धराशायी हो गया।

उसी समय वह दुष्टा कपटवेषा अमृता मेरी भार्या हा नाथ, हा नाथ ! शब्द करती पुकारने लगी और मायापूर्वक रूदन भी करने लगी पश्चात्–

सर्व ओर से चढ़कर ऊपर पड़कर केशभार को विस्तारती (दुष्टा अमृता) ने अति कोमल गले में दंतों द्वारा पीडासहित मुझे मारा।

पृथ्वीनाथ ! जब उसने जाना कि जो कहीं वैद्य आ गया तो मेरा कपट खुल जायेगा इससे ऐसा उपाय करना चाहिये जिससे वैद्य के आजाने पर भी मेरा मायाचार प्रगट न हो।

ऐसा विचार कर उस दुष्टा ने तीक्ष्ण दांतों से मेरे गले में घाव कर मुझे मारा और लोगों को दिखाने के लिये हा नाथ ! हा प्राणवल्लभ ! पुकार कर रूदन करने लगी।

नृपवर ! उस दुष्टा के पुकार मचाने से समस्त परिवार और अंतःपुर एकत्रित हो गया। राजन् जो पुरूष व्यभिचारिणी कुलटा के वचनों का विश्वास करता है वह मेरी भांति नष्ट हो जाता है।

उस समय सज्जनजनों के मन और नेत्रों को आनन्ददायक मेरे पुत्र को सूचना मिलने पर शरीर कंपित होकर पृथ्वी मंडल पर वह ऐसे पड़ा जैसे वज्रपात से पर्वत पड़ता है।

पश्चात् सचेत होकर हा नाथ ! हाय तात ! आपके बिना समस्त जगत अंधकारमय भासने लगा ।

हाय पिता ! आपके जाने से मेरे मुख की छाया भग्न हो गई।

हाय स्वामिन् ! आप विना यह धरापट्ट शून्य हो गया।

पृथ्वीनाथ ! अब इस अवंती के राज्य का स्वामी कौन होयगा।

हाय पितृवर ! आपके बिना यह राज्य मुझे रूचिकर नहीं हुआ किंतु उलटा दुःखदायक हो गया। हाय तात ! इस विस्तीर्ण राज्यपर वज्रपात हो, मुझे कुछ भी प्रयोजन नहीं इत्यादि पुकार करता रूदन करता भया और अपने करकमलों से निज मस्तक और उरस्थल कूटने लगा।

पृथ्वीनाथ ! उस समय मेरे पुत्र यशोमति की यह अवस्था देख वृद्ध मन्त्री, सेनापति आदि मुख्य कर्मचारीगण और वृद्व कुटुम्बीजन सम्बोधते भये। हे पृथ्वीनाथ ! जैसे होय तैसे इन दुःख सहित अश्रुपात को रोककर समाधान चित्त होओ।

सर्वलोक कहने लगे–इस असार संसार में जितने महापुरूष हुए समस्त काल के कवल बन गये। इस धरातल पर महाराज नल, नहुष, सगर, मांधाता आदि बड़े–बड़े प्रतापी प्रजा के पालक हुए परन्तु समस्त काल के वश होकर समाप्त हो गए। इस मंडल पर वेणुपाल आदि महाबली राजा हुए उनको भी काल ने भक्षण किया। युवराज ! पूर्व समय में नारायण, प्रति नारायण ,हलधर, चक्रवर्ति और कामदेव आदि प्रतापी तीन खण्ड और छह खण्ड पृथ्वी के नाथ अनेक महाराज हुए, उन्होंने पृथ्वी तल पर अनेक अदभुत कार्य किये परंतु वे भी यमराज के मुख के ग्रास होगए ।

चिरंजीव ! जो जन्म धारण करता है वह मरण को साथ लाता है इस कारण संसार की क्षणभंगुर अवस्था जानकर शोक का त्याग करो किंतु समाधान चित्त से निज पिता और पितामही की विधिपूर्वक दग्ध क्रिया करो।

क्षुल्लक महाराज मारिदत्त नृपति से कहने लगे –नृपश्रेष्ठ ! उस समय समस्त कर्मचारियों के सम्बोधन से यशोमति बोध को प्राप्त होकर शोक का त्यागकर पिता (यशोधर) और पिता मही (दादी) की दग्ध क्रिया का प्रबन्ध करने लगा अर्थात् उत्तम चंदोवा, स्तम्भ, झल्लरी और क्षुद्र घंटिका सहित विमान बनाकर उसमें दोनों शवों को स्थापित किया।

पश्चात पटहा, ढोल, शंख आदि वादित्रों के शब्द होने लगे। किन्तु उस दुष्टा अमृतमती ने यद्यपि बाह्य रीति से रूदन आदि बहुत विलाप किया। तथापि उसके मुख की शोभा विशेष ज्ञात होने लगी।

उदासचित्त यशोमति राजा दुर्मत होता हुआ बारबार मोहित होने लगा। पुनः मन में तप्त होने लगा और यह कहने लगा कि तातके बिना क्या जीवितव्य है ?

पृथ्वीनाथ ! मेरे शोक से समस्त अन्तपुरः की स्त्रियां शोकसूचक रक्तवस्त्र धारणकर अनेक लोगों के साथ मेरे शव के पीछे गमन करती ऐसी दीखती थीं जैसे सूर्य के पीछे संध्या गमन करती है।

राजन् ! मेरे शव के संग जाते समस्त लोग कैसे दृष्टिगत होते थे जैसे चन्द्रमा केसाथ अनेक नक्षत्र–समूह गमन करते हैं। इसी प्रकार गमन करते, रूदन करते, उरस्थल कूटते महाकाल नामक यक्ष के मन्दिर की दक्षिण दिशा की और श्मशान में ले गये वहां समस्त परिजन पुरजन किन्तु अन्य ग्रामों के राजालोक ओर अनेक सुभट समूह आए परन्तु मलिनभाव की धारने वाली दुष्टा पापिनी कूबड़ा में आसक्त अमृता नहीं आई।

श्रीमान् ! उस श्मशान स्थल में कितने ही सुभट ऊँचे हाथकर अति आतुर होते मरण का निश्चय कर स्वामी के शोक से अपना मस्तक छेदने लगे, कोई सुभट निजदेहके खंड करने लगे, कोई सुभट पृथ्वीनाथ के स्नेह से चिता की अग्नि में पडने लगे, कोई सुभट छुरिका से निज उदर को भग्न कर चिता की अग्नि में हवन करने लगे और अनेक पुरूष संसार से विरक्त होकर जिनेश्वरी दीक्षा धारते भये।

नृपवर ! उपरोक्त समुदाय के मध्य यशोमति नामक पुत्र ने दोनों का अग्नि से संस्कार किया पश्चात् अग्नि से बचे हुए अस्थियों का दुग्ध से सिंचनकर गंगा में क्षेपण किया। तदनंतर मेरे नाम से अनेक विप्रों को एकत्रित कर अनेक गायों के समूह, रत्न, सुवर्ण के हार आदि आभूषण, बहुमूल्य के उत्तम वस्त्र, चमर, छात्र, सिंहासन और अनेक ग्राम दिये। तथा अन्धे, लूले, लंगडे, बुभुक्षित, दीनदरिद्री जीवों को अन्न, वस्त्रादि दिये पश्चात् पुरजन और परिजनों को उत्तम भोजन आदि से संतुष्ट किये।

पृथ्वीनाथ ! मेरे निमित्त यशोमति ने अनेक प्रकार दान किये तो भी समस्त योनियों में उत्कृष्ट मनुष्य पर्याय को प्राप्त न हुआ।

धरानाथ ! देखो, संसारी जीव मिथ्यात्व कर्म के उदय से कैसे मोहित हो रहे हैं कि जिनको इस बात का किंचित् भी बोध नहीं कि जीव अपने ही शुभाशुभ भावों से अनेक प्रकार के कर्म बांधकर संसार में भ्रमण करते हैं और उनके अर्थ अन्यजन कितना ही दान पुण्य करो परन्तु उन्हें कुछ भी प्राप्त नहीं होता उल्टा मिथ्यात्व का बंध होता है।

वे अज्ञानी प्रत्यक्ष देखते हुए भी भूल रहे हैं क्योंकि पिता के खाने से पुत्र का उदर नहीं भरता, इसी प्रकार पुत्र के भोजन करने से पिता की तृप्ति नहीं होती । जबकि निकट तिष्ठे हुए का उदर पूर्ण नहीं होता तो अन्य योनि प्रति गये हुये के अर्थ जो दिया जायेगा वह उसके पास किस प्रकार पहुंच जाता है ?

विषयासक्त जीव तब तक अतिघोर संसार में भ्रमण करते हैं जब तक सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र को प्राप्त नहीं होते और चिंतवन नहीं करते।

प्रजापते ! यह तो निश्चय है कि समस्त जीव अपने किये कर्मों के अनुसार संसार में भ्रमणकर अनेक योनियों में उत्पन्न होते हैं इसी प्रकार मैं निज कर्मों के आधीन मरण को प्राप्त होकर हिमवन पर्वत की दक्षिणदिशा के क्षुद्रवन में मयूर के उदर में उत्पन्न हुआ वह वन व्याघ्र, सिंह, गज, गैंडा, हिरण, और रीछों के समूह से भयानक है। जिस वन में व्याघ्र ससमूह हिरणों का घात करते हैं, और सिंहगण मदोन्मत्त हस्तियों के समूह से युद्ध करते हैं।

उस निर्जन अरण्य में किसी स्थल प्रति घुघू गृद्ध आदि पक्षियों के समूह निवास करते हैं। किसी प्रदेश में सर्प और नकुल युद्ध का आरंभ करते है। किसी स्थान प्रति भीलों के समूह वृक्ष की वेलियों से फलों को चुनते पथिकजनों के लूटने के अर्थ मार्ग प्रतीक्षा कर रहे हैं।

कहीं २ बंदर और लंगूरों के समूह वृक्षों की शाखाओं को कंपित करते घोर शब्द कर रहे हैं। कहीं २ अष्टापदों के समूह को

विचरता देख सिंह भाग जाते हैं। जिस अरण्य में मृगनाभि (कस्तूरी) के अर्थ हिरणों के घात में लगे अनेक दुष्टजन विचर रहे हैं।

वृक्षों के समूह से सघन उस वन में अशुभ परिणामों के योग से दुःखों से व्याप्त मयूर कुल में कुकर्म ने लाकर मुझे क्षेपण किया।

नृपवर ! उस भयानक बन के मध्य मयूर के तीव्राग्नि युक्त उदर में उत्पन्न हुआ। मैं वहां जैसे दुष्टजनों के वचनों से सज्जन दग्ध होते हैं उसी प्रकार मयूर की उदराग्नि में दग्ध होने लगा।

राजन् ! जैसे तप्त कढाह में नारकी दुःखी होते हैं उसी प्रकार मैं भी पीडित हुआ पश्चात् मेरी माता मयूरी ने मुझे उदर से निकाल बिलाव आदि हिंसक जीवों के भय सेकंकटमय वृक्षों के खण्ड़ो से क्षिप्तिकर शर्करा (रेती)में पक्षों से ढाक उदर की ऊष्मा से संतप्त किया।

तदनंतर पूर्ण दिवस होने पर मुझे अंडा से निकाला सो जब तक मैं चलने और उडने योग्य न हुआ तब तक मेरी माता मुझे निज चंचू (चोंच) से अन्नकण चुगाती थी। उसी से मेरी उदर पूर्ण होती थी।

इसी प्रकार कालक्षेप करते थे कि एक दिन अरण्य में भ्रमण करती माता को दुष्ट भीलने मारा और मुझे जीवित ही पकड लिया पश्चात मयूरी कोएक वस्त्र में बांध मुझे दूसरे वस्त्र में लपेट निज घर को चलता बना।

नृपश्रेष्ठ ! उस समय मैं अनेक प्रकार रूदन भी करता था, परंतु उस दुष्ट शिकारी के हृदय में किंचित् भी दया का उदय न हुआ।

राजन् ! उस ग्रीष्म समय में देह की उष्णता से मैं कैसा संतप्त हुआ कि जिसके वर्णन करने को परमेश्वरी, वागेश्वरी (सरस्वती) भी समर्थ नहीं।

नृपवर ! उस भील ने ग्राम में जाकर मेरी मृत माता (मयूरी) को तो कोटपालके हाथ बेच दी और मुझे निज घर ले जाकर

पींजरा में बंद कर दिया। पश्चात् दुःखकर कंपित हृदय मुझे देख भीलनीने अपने पति (भील) से कहा–

भीलनी- रे दुष्ट पापिष्ठ ! तू इस बालक को क्यों लाया, इसको मारने से क्या होगा ? इसका एक ग्रास भी तो नहीं होगा। क्या इससे उदर भर जायेगा ? तू बडी मयूरी तो कोटपाल को दे आया और छोटा बालक यहां लाया है ! अब क्या तुझे भक्षण करूँ रे नीच ! अब तू मेरे सन्मुख से चला जा, मुझें मुख मत दिखा।

इस प्रकार भीलनी निज भार्या के कटुक और रूक्ष वचन सुनकर भील भी कहने लगा–

भील- अरी दुष्टनी ! तू क्यों घबराती है ? अभी जाकर इस बच्चा को भी बेच आता हूं , उससे जो कुछ द्रव्य मिलेगा उसका अन्न लाकर तुझे देता हूँ तब अच्छी तरह उदर भर लेना।

ऐसा कहकर भील ने उस मयूर बालक (मुझे) को लेकर कोटपाल के निकट जाकर, थोडा चून लेकर दे दिया। पश्चात कोटपाल ने मुझे मारा नही किंतु मेरा पालन पोषण किया और मार्जार श्वान आदि जीवों से मेरी रक्षा की।

पृथ्वीनाथ ! उस कोटपाल के घर में हंस की भांति समीचीन कांतियुक्त शरीर होता हुआ वहां मैं धान्य का भक्षण करता हुआ मनुष्यों को रंजितकर सुमधुर शब्द करता था।

नृपश्रेष्ठ ! पापी जीवों का भी शरीर आहार के साथ बंधा हुआ है। मैंने कोटपाल के घर मैं पेट भर भोजन किया जिससे पंचवर्ण के रत्नों की माला सदृश मेरे पुच्छ का गुच्छ निकला तथा मेरा समस्तगात्र अतिशोभा युक्त हुआ, उसे देख हर्षित होकर कोटपाल ने कहा कि इस बालक को उज्जैनी नगरी जाकर महाराज यशोमति की भेंट करूंगा।

मदमती चन्द्रवती नाम की मेरी माता का जीव उसी उज्जैनी नगरी में विसरस मूर्छित काय श्वान की योनि को प्राप्त हुआ ।

राजन् ! मेरी माता चन्द्रमती जो कि विष्णु के चरणों की भक्ता, ब्राह्मणों के भोजन किये हुए में से अवशेष रहे मांस की भक्षण करने वाली, मुक्ताहार विभूषित विप्रों को तोषित करने वाली, निरंतर चंडिकादेवी को पूजने वाली, देवी के अर्थ अनेक दीनपशुओं को मारनेवाली, गंगानदी के जल को पवित्र मानने वाली, बकरा हिरण मेष आदि दीन पशुओं द्वारा कुलदेवी और कुल पितरों को तृप्ति करने वाली, और जैन मतानुयायी जीव मात्र के रक्षक नग्न दिगम्बर मुनियों की निन्दा करने वाली थी। वह अपने अशुभ कर्मों की प्रेरणा से श्वान की योनि में उत्पन्न हुई।

वह श्वान महा बलवान पवन समान वेग का धारक चंचल और कुटिल कुलिश (वज्र) सदृश कर्कश नख वाला था जिसके हाथ का प्रहार हिरणों के समूह का विदारक था।

वह चंचल और वक्र पुच्छ का धारक श्वान रोमावली के भार से पूर्णकंठ बृहत् उदरपुष्टि और विस्तृत पिंष्ठभाग पीत वर्ण चंचल और भासुर नेत्र युगल बन सूकरों को अपत्ति विधायक मुख यमराज के करोंत समान तीक्ष्ण दन्त इत्यादि महाविकराल और पाप क्रिया में रत वह श्वान महाराज यशोमति की भेंट में आया और उसी दिन मुझ मयूर बालक को भी कोटपाल ने ले जाकर महाराज को दिया।

राजन् ! उन दोनों को देख महाराज यशोमति अति हर्षित चित्त हुए। पश्चात् कुत्ता को श्वान–पालकों के हस्तगत किया गया और मुझे गृह का मण्डन बनाया, अर्थात् महल में रहने का आदेश दिया। उस समय मेरे पुत्र यशोमति ने प्रेम पूर्वक मेरे समस्त गात्रपर हाथ फेरा और अत्यन्त प्रशंसा करता हुआ निज हृदय में इसप्रकार चिंतवन करने लगा।

निपुण विधाताने यह ऐसा मनोरंजन मयूर निर्मित किया मानो कमलाक्षी नवलक्ष्मी का केश कलाप है।

राजन् ! यशोमति नृप और भी विचारने लगे कि जैसा ही मनोज्ञ मयूर है वैसा मनोरंजन श्वान भी है। यह तो काव्यायनी के सिंह सदृश

बलवान अपने वेग से हिरण समूह का घातक है तथा मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि इस श्वान के सन्मुख विष्णु महाराज का अवतार सूकर भी नहीं बच सकता।

राजन् ! इस प्रकार अनेक प्रकार चिंतवन कर तत्काल कुत्ता तो श्वानपालकों के हस्तगत किया सो उन्होंने उसे यमराज तुल्य ज्ञातकरसुवर्ण की श्रृंखला (सांकल) से बाँधा, और मुझे महलों के मध्य छोड दिया सो मैं गगनांगण में उड़ता महलों के शिखरों पर क्रीड़ा करने लगा। उस समय गगनांगण में गर्जना करता और ग्रीष्म रूप राजा के भगाने को इन्द्र धनुष का धनुष धारण करता मेघ मण्डल देखा।

राजन् ! वह धनमाला, रूपीवाला, विद्युतरूप कंचुकी से भूषित गात्र, इन्द्र धनुष्यरूप विचित्र वस्त्र धारण करती देखी।

उस समय मैं (मयूर) वर्षाकाल का आडंबर देख रोमांकुरित मात्र होता नृत्य करता हुआ पश्चात् जन्मांतर का अशुभ चिंतवन कर अश्रुपात करता रूदन करने लगा, उसी सम्य धरातल पर तिष्ठा कूबडा और उस के प्रति आसक्त अमृतारानी देखी। तत्काल पूर्व वैर से ईर्षा के आवेश कर मैं उनके ऊपर पड़ा। तहाँ पुच्छ और पक्षों से छिपाकर तीक्ष्ण नख और चञ्चू द्वारा घात करने लगा।

उस समय रुधिर की धारा से व्याप्त अति विह्वल होते दोनों हाथ ऊँचे कर हाहाकार करते पृथ्वी पर पड़े, पश्चात् उस अमृता दुष्टा ने शीघ्र उठकर मणि की माला से मेरा पग भग्न किया सो मैं जातिस्मरण होने से ऐसा चिंतवन करने लगा–

जिस समय मै सामर्थ्यवान अद्वितीय राजा था उस समय तो इनका घात न किया, किन्तु इस समय इस जार प्रति प्रहार किया सो संक्लेशका कारण हुआ ऐसा विचारकर मैं संक्लेशित होने लगा।

राजन् ! उपरोक्त विचार करता मैं यद्यपि भग्नपाद हो गया था तथापि निजबल पूर्वक जैसे तैसे वहां से भागा, परन्तु अमृता के

पुकारने से अनेक दासी मेरे पीछे दौडी और जिसके जो हाथ में पड़ा उन्हें लेकर मुझे मारने लगे।

किसी दासी ने कोप पूर्वक पांवडी फेंककर मारी, एकने चमरकी दंडी ही मारी, किसी ने कर्पूरके पिटारेसे हना, किसी ने चौकी के फल से, किसी ने हारावली से, किसी ने हाथ की पुष्पांजली से और किसी दासी ने वीणा के दंड ही से घातकर धरो पकडो जाने न पावे, इत्यादि कहती अनेक दासियां मेरे पीछे लगीं तो भी मैं भागता ही गया परन्तु दैव ने फिर प्राण बचने न दिये।

भले प्रकार रौद्र शब्द से आए हुए माता के जीव श्वान ने मेरा कण्ठ पकड़ लिया जिससे मैं प्राणो से मुक्त हो गया।

जो माता मेरे किंचित् अशोभन में विह्वल हो जाती थी उसी माता के जीव कुत्ता ने दाँतों की दृढ़ श्रृंखला से कण्ठ ऐसा पकड़ा कि महाराज यशोमति (मेरे पुत्र) ने बहुत छुड़ाया, परन्तु उस दुष्ट कुत्ता ने न छोडा तब यशोमति ने क्रोधित होकर उसके मस्तक में ऐसा दंड प्रहार किया कि तत्काल मस्तक के दो खण्ड होकर श्वान के प्राण निकल गए।

नृपवर ! देखो, कर्मों का विकार कैसा विचित्र है ? कि माता के जीव श्वानने पुत्र के जीव मयूर को मारा और नाती ने पितामही के जीव कुत्ता को मारने के पश्चात् विलाप किया।

पृथ्वीनाथ ! उस समय मेरे मृत शरीर को देख यशोमति इस प्रकार विलाप करने लगा कि हा मयूर ! हा ! गृह की लक्ष्मी का आभूषण ? तेरे बिना महल के शिखर और ध्वजाओं की शोभा कहां? **हा शिखिराज !** तेरे बिना घर की बावड़ी में विचरते सर्प कैसे नष्ट हो गये ? हा शिखन्ड ! तेरे विना विचित्र पुष्पों की पंक्ति में कामिनियों का शब्द श्रवण कर कौन नृत्य करेगा ? इत्यादि मयूर के शोक से निर्वृत नहीं हुआ था कि इतने में कुत्ते का मृत शरीर देख पुनःविह्वल होता विलाप करने लगा।

यशोमति महाराज कहने लगे-अहो–श्वान केशर पत्र का भक्षण और सूक्ष्म जल का पान क्यों नही करता ? हा ! श्वान अब यहां कैसा शयन कर रहे हो ! मेरे कुरूविन्दुजाल नामक बनमें निवास कर सरोवर की कर्दम का अनुभव क्यों नहीं लेते ? क्या मेरे एक ही दंड से रुष्ट होकर शयनस्थ हो गये ? यह देख, सुवर्ण के पात्र में उत्तम भोजन दुग्ध मिश्रित रक्खा हुआ है उसे भक्षण क्यों नहीं करते ?

पश्चात् यशोमति महाराज और भी कहने लगे–शीघ्र गमन करने वाले हिरण अरण्य में स्वेच्छाचारी हो रहे हैं सो (हे श्वान !) इस समय तेरे बिना मृगों को मारने में कौन समर्थ है।

नृपवर ! उपरोक्त प्रकार चिंतवन करने के पश्चात् जैसा मेरा (यशोधर) और चन्द्रमती का अग्निसंस्कार किया था उसी प्रकार मयूर कुत्ते की दग्ध क्रिया की। तदनन्तर उसी प्रकार पिंडदान, विप्रभोजन आदि समस्त कृत्य किया।

नराधीश ! देखो मोहवश होकर सुपुत्र इस कामना से वस्त्र आभूषण भोजन आदि साम्रगी विप्रों को देता है कि मेरे मृतक पिता के निकट पहुंच जायेगी, परन्तु वहाँ किंचित् भी नही पहुंचती।

ब्राह्मणों के वाक्जाल में फँसकर लोग ऐसा करते हैं सो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं इत्यादि ।

धराधीश ! जिस समय मैं प्राण मुक्त हुआ तत्काल सुवेल गिरि के पश्चिम भाग में महा शुभ अरण्य मध्य कानी नकुली (नोली)के गर्भ में उत्पन्न हुआ।

राजन् ! यह कैसा भयानक वन था ? कि जिसमें शुष्क वृक्ष और पापों की प्रचुरता से शाल्मली, बमूर, आदि कंटक वृक्षों के सिवाय अन्य वृक्ष उत्पन्न नहीं होते थे। जिस वन में जल का नाम निशान नही था किन्तु पवन के वेग से धूलि के पटल और शुष्क पत्रों के समूह उड़ते दृष्टिगत होते थे।

उसी निर्जन और भयंकर बन में उस क्षुधा तृषा से पीड़ित शुष्कस्तना न्यौलीके उदर से जैसे ही मेरा जन्म हुआ कि मैं भी उसके दुग्ध रहित स्तनों को जीभ से चाटने लगा सो दूध बिना मुझ बुभुक्षित की तृप्ति किस प्रकार हो सकती थी, पश्चात् ग्रीष्म की ज्वाला से संतप्त होता मैंने एक तुच्छ सर्प देखा तो उसे तत्काल निगल गया।

उस समय मुझे सर्प का स्वाद अच्छा मालूम होने से मैंने अनेक सर्पों का भक्षण किया। अब मैं सर्पों को भक्षण करता वृद्धि को प्राप्त होता कालक्षेप करने लगा।

धराधीश ! मेरी माता का जीव श्वान की पर्याय से उसी वन में सूक्ष्म तन्तुओं का भक्षण कर तीक्ष्ण विष का भयंकर सर्प हुआ।

वह विषधर ! बन में क्रीडा करता यावत् बिल में प्रवेश करता तावत् मैंने उसकी पुच्छ का अग्रभाग मुख में धारण कर खाने का प्रारम्भ किया ।

राजन् ! जैसे मैंने उसकी पूंछ काटी कि तत्काल उसने लौटकर विकराल फण की घात से मेरे मुख में विषाग्नि छोड़ दी। पश्चात् सघन दांतो को किडकिडाता मेरी पीठ के चर्म और अस्थि को विदीर्ण कर दिया जिससे चिड़ चिड़ शब्द होकर रुधिर की धारा बहने लगी।

ऐसी अवस्था देख पुनः मैंने उछल कर उसके फण मण्डल को ऐसा चर्वित किया कि वह तत्काल मरणांत हो गया, और मैंने भी उसके विष की अग्नि में दुग्ध होकर प्राण छोड़ दिये।

नृपश्रेष्ठ ! इस संसार में ऐसा कौन सा जीव है जो कर्मों के विकारका उल्लंघन कर सके। इसी कर्म के अनुसार असंख्य जीव एक दूसरे के भक्षक बन रहे हैं।

जैसे स्थावर जंगम जीवों को द्वि इन्द्रिय ते इन्द्रिय और चतुरिंद्रिय एवं–विकलत्रय भक्षण करते हैं उसी प्रकार पंचेन्द्री

विकलेन्द्रिय जीवों का घात करते है इसी भांति पूर्व वैरानुबंध से पररपर घातकर मृत्यु को प्राप्त होते है, वैसे ही मेरी माता का जीव सर्प और मुझ यशोधर के जीव नकुलने परस्पर एक दूसरे को घातकर यमपुर का मार्ग लिया और कुयोनि में उत्पन्न होकर दुःखों का अनुभव प्राप्त किया।

(क्षुल्लक महाराज मारिदत्त नृपति से कहते हैं) कि राजन् ! इस प्रकार मेरे कथन को श्रवण कर यदि हिंसा का वर्जन करेगा तो मद रहित परमात्मा को प्राप्त होयेगा। तथा पुष्पदन्त कवि भी परमात्मा को प्राप्त होगा।

इतिश्री महामात्य नन्हकर्णाभरण पुष्पदंत महाकवि विरचित यशोधर चरित्रमहाकाव्य में यशोधर चन्द्रमति भवांतर वर्णनोनामक द्वितीय परिच्छेद समाप्त हुआ ।।२।।

❂❂❂

तृतीय परिच्छेद

यशोधर, चन्द्रमती मनुजजन्म -लाभ वर्णन

अथानंतर- जो कि औषधि और नक्षळोंके अधीश चन्द्रमा सदृश कांति का धारक, पवित्र और उत्कट कीर्तिका स्थान, समस्त शास्त्रों के अर्थका ज्ञाता, इन्द्रादिकों कर पूज्य तीर्थकरोंका परम भक्त, भव्य पुरूषोत्तमोंका भ्रात,संसार, समुद्रसे सतत् भयभीत, नीतिका ज्ञाता, इन्द्रियोंका विजेता और विनयका पात्र है ऐसा नन्हदेव बुद्धिको प्राप्त हो।

पुनः अभयरूचिकुमार नामक क्षुल्लक मारिदत्त महाराज से अपने भवभ्रणकेक्लेशोंकी कहानी कहने लगे–राजन् ! उज्जैनी नगरीमें गंभीर द्रहों युक्त और स्वच्छ सिप्रा नामकी नदी है।

पृथ्वीनाथ ! वह सिप्रा नदी कहीं तटके वृक्षोंसे पड़े पुष्पों के समूहसे उज्ज्वला, कहीं पवन प्रकंपित कल्लोलों के समूहसे गम्भीर, कहीं क्रीड़ा करती तरूण स्त्रियोंके पीनौन्नत कुचोंसे छूटी, कुंकुम से पीतवर्ण, कहीं स्नान करते मदोन्मत गजराजों के परस्पर संघट्ट से चंचला कहीं क्रीड़ा करते राजकुमारों के आभूषणों की किरणों से व्याप्त अनेक वर्णयुक्त दृष्टिगत होती है।

वह सिप्रा सरिता किसी स्थल में सारस जलकाक करण्ड और बक आदि पक्षियोंसे व्याप्त है। कहीं कच्छ और मस्यों की पुच्छ के संघट् से विघटित सीपों के संपुट से मुक्ताफलों के समूह फैल रहे हैं। कोई स्थान प्रति उछलती कल्लोलों की बाहुल्यता कर उछलते हंसोकर मान्य सिप्रा उज्ज्वल कमलोंकी सुगंध के आस्वादन में लुब्ध भ्रमरों के समूह से श्यामवर्ण दृष्टिगंत होती है, जिसके उज्ज्वल तटोंपर तपस्वी योगीराज निज ध्यानमें मग्न हो रहे हैं।

जिस स्वच्छ वाहिनी के शीतल जलको स्पर्श करती पवन मृगों के समूह और बनवासी भिल्लों की शांन्ति करती है, जिस नदीमें जल पीने को आए, युद्धमान्य मदोन्मत्त हस्तियों की सूँड़ के उछालनेसे तटके निकट क्रीड़ा करते बन्दरों के समूह त्रासित होते हैं।

वह सिप्रा हस्तियों के मस्तक से पड़ते रंग के जाल कर पूर्ण मुख हैं जिनके ऐसे पक्षियों को अत्यंत सुखदायिनी है। वह सरिता खोदे हैं जमीन में गम्भीर व गर्त्त जिन्होने ऐसे बन सूकरों के समूह कर व्याप्त व्यभिचारिणी स्त्रियों कर नित्य शोभित हैं।

अभयरूचि कुमार क्षुल्लक कहते हैं। कि महाराज! मैं उस निष्ठुर सर्पकी घात से मरण को प्राप्त होकर पुनः सिप्रा नदी में मीन के गर्भ में आकर स्थिर होने लगा।

तदनंतर मछली के उदर से जन्म ग्रहण कर क्रमपूर्वक वृद्धिंगत होता बड़े बड़े मगरमच्छों के शरीर के विदारने में समर्थ तथा आकाश में उछलना,उलटा पड़ना जलमें फिरना, और उलंघन करना आदि जलके विभ्रम में अति प्रवीण हो गया।

इस प्रकार सिप्रा के अति निर्मल स्वच्छ और चंचल जलमें विचरता, तैरता और मस्यों के समूह को निगलता काल व्यतीत करने लगा।

महाराज ! पृथ्वीनाथ ! मेरी माता का जीव जो कि सर्प हुआ था वह मेरे घात से मरकर घोर कर्मो के अनुसार उसी नदी में जल जंतुओं का अधिपति संशुमार हुआ। सो दैवयोग से मुझे देख पूर्व वैर के अनुबंध से जैसे ही तीक्ष्ण नख और दांतों से मुझे पकड़ विदीर्ण करने का कार्य प्रारम्भ किया था कि इतने में महाराज यशोमति के महलों की कोमलांगी चन्द्रवदना दासी निज–नूपुरों के शव्द से झनकार करती,जल केलिके उत्सव में उत्साहित होती, सुन्दर वस्त्राभरणों से शोभमाना, दिव्य सुगन्ध से पूरिता,कंठगत मुक्ता हार की पंक्ति से दिव्यरूपाकार, विनोदपूर्वक सरिता के स्वच्छ जलमें केलि करने लगी।

राजन् ! उस समयका दृश्य अपूर्व था अर्थात् वे मदमाती दासिकायें जलकेलि में मग्न होती भयीं। कोई दासिका डुबकी लेकर दूर प्रदेश में निकली, कोई परस्पर एक दूसरे पर निज कोमल करोंकी चपेटसे जल उछालने लगीं, तो कोई जल में तैरने लगीं इत्यादि अनेक विनोद करती हुयीं।

इस प्रकार जल में निश्चल तैरती–तैरती एक दासीने एक दासीको पीड़ित किया सो दैवकी विचित्रता देखो कि वह मेरे ऊपर आकर पड़ी।

राजन् ! जिस समय एक दासीने कुब्जिका दासीको धक्का दिया सो वह मेरे (मस्य के) ऊपर आकर पड़ी। उस समय शंशुमार ने जो मुझे पकड़ रक्खा था सो मुझे तो छोड़ दिया, किन्तु तत्काल उस दासी को पकड़ कर नख और दांतों से विदारने लगा।

नृपवर ! उस समय हाहाकार करती भंयकर कंपित होती समस्त दासियां जलसे भागी। तत्पश्चात ! रानी के किंकरोंने महाराज यशोमतिके निकट जाकर विज्ञप्ति की कि श्री महाराज ! आपकी मानिता कुब्जा

दासी को जलकेलि करते समयं मांसलुब्ध शंशुमार नामक जल जन्तु ने नख और दांतों से उसका चर्बण किया है।

ऐसा सुन क्रोधकर कंपितगात्र होकर महाराज यशोमति ने कहा–ऐसा हिंसक जन्तु किसको प्रिय होगा ? जिसने सूकर,भांसर आदि बनवासी जीवों को जलपान करते समय भक्षण किया, तथा स्नान क्रीड़ा करते समय अनेक नर नारियों को ग्रसित किया, उस दोष की खानि शंशुमार नामक जल–जन्तु को शीघ्र ही नेत्रों को असुन्दर और अग्निकी ज्वाला सदृश दीप्यमान यमराज के नगर प्रति भेजो।

ऐसा कह अनेक योद्धाओं सहित महाराज यशोमति ने स्वयं सरिताके तट प्रति जाकर धीवरों को आदेशित किया कि शीघ्रतर इस नदी के गम्भीर द्रहोंमें से जैसे हो सके उस प्रकार खोजकर शंशुमार को पकड़ो।

नृपवर ! महाराज यशोमतिके क्रोध पूर्ण शब्द से आकाश पूरित हो गया। उसे सुनकर अनेक धीवरगण तत्कार सिप्राके मध्य पड़े सो उनके प्रचंड भुजदण्डों के द्वारा अवगाहित जल से दोनों तट व्याप्त हो गये। पश्चात् घूमते फिरते धीवरोंने कोलाहल शब्दकर वक्र कीला युक्त वंशी से यद्यपि उस शंशुमार का कंठ वेधित किया तथापि उछलता–कूदता शंशुमार धीवरों द्वारा नदी के बाहर निकाल स्थल में धारण किया गया।

नृपेश ! उस समय शंशुमार को देख क्रोधित भाव में महाराज ने आदेश दिया कि इस दुष्ट जन्तु को अग्निमें दग्ध करो ऐसा सुनकर किंकरों ने अग्नि प्रज्ज्वलित कर शंशुमार को हवन कर दिया ।

राजन् ! जबतक मैं विवर से निकल नदी में क्रीड़ा करता तिष्ठा था कि इतने में, किया है मारनेका किलकिलाट शब्द जिन्होंने ऐसे धीवर समूह आगे आए।

नृपवर ! उस समय धीवरों ने सूत्र निर्मित सघन जाल मेरे ऊपर डाला सो मैं संग्राम में निर्जित शत्रु की भांति उस जाल में फंस गया।

उस समय जैसे गृह सम्बन्धी खोटे व्यापारों से कोश कृमि लट और तन्तुओं के समूहसे दुःखी होता है तथा जैसे तीव्र मोह के उदयसे संसारी जीव पीड़ित होता है उसी प्रकार जाल में फंसकर धीवरों के पाद प्रहारसे मैं क्लेशित हुआ।

पृथ्वीनाथ ! जिस समय धीवरों ने जाल में फंसाकर मुझे नदी के तट प्रति रक्खा उसी समय एक पुरूषने कहा कि इस मत्स्य को मारना नहीं क्योंकि इसके मारनेसे अति दुर्गन्ध फैलेगी।

ऐसा कह पूर्व भवके पुत्र यशोमतिको दिखाया सो यशोमतिने मेरा शरीर देख आगमवेदी ब्राह्मणों से मेरे शारीरिक लक्षण वर्णन करनेको कहा तब विप्रजन मेरे गात्रको उलटपलट कर सामुद्रिक शास्त्र से लक्षण कहने लगे।

यह पांडुरोहित जाति का मत्स्य नदी के प्रवाहमें सन्मुख तैरता है तथा यह मच्छ देव और पितरजनों की बलिके योग्य है ऐसा कहकर वेद ब्राह्मण कहने लगे–

श्री विष्णु भगवान्ने जगत् की रक्षा के अर्थ मत्स्यावतार धारण कर षट् अंगुलयुक्त वेद को समुद्रमें से निकाला इसी से ब्राह्मणों ने मत्स्य को अति पवित्र माना है।

इत्यादि कहकर विप्रोंने महाराज को संमति दी कि यह मत्स महारानी अमृत देवी के महल में भेजना चाहिये, फिर क्या था तत्काल ही महाराज ने भी महलों में भेजने का आदेश दे दिया सो दुष्टकर्मा किंकरोंने भी मुझे (मत्स को) अमृता के मंदिर में पहुंचा दिया ।

नृपवर ! वहां पहुंच जानेसे ब्राह्मणों का प्रयोजन सिद्ध हो गया अर्थात् ब्राह्मणों ने अमृता से कहा कि हे मात। परमार्थतः यह रोहित मत्स्य समस्त मच्छों में उत्तम माना गया है, इसकी पूंछ का पितरोंके नामसे यदि विप्रों को भोजन दिया जावे तो अवश्य ही पितरों की तृप्ति होती है।

पृथ्वीनाथ ! उस समय"बह्मवाक्यं जनार्दनः"की कहावत को चरितार्थ करती अमृताने मेरी (मत्स्य की) पूछकटवा कर सोंठ मिरच आदि मसालों में पक्व करवाकर विप्रों के अर्थ दी, सो वे सकल ब्राह्माण उदरपूर्ण भोजनकर आशीर्वाद देकर निज घर को गए।

तदनन्तरः- मेरे शेष शरीर को अनेक मसालों से मिलाकर तप्त तैल के कढ़ाहमें डालकर जिस समय पचाया, हे राजन ! उस समयकी जो कुछ वेदना मुझे हुई वह कहने में अस्मर्थ हूँ।

श्रीमान् ! जिस समय तप्त तैलमें पड़ा मैं पक रहा था उसी समय जाति स्मरण होनेसे मैने समस्त परिवार को जान लिया जिससे एक तो मानसिक दुःख दूसरा शारीरिक कष्ट, इस प्रकार, दोनों क्लेशोंका अनुभव ग्रहण किया।

नृपश्रेष्ठ ! आप भी इस बातका अनुभव कर सकते हैं कि जिस समय लवण मिरच आदि मसालों में मिलाकर तुझे तप्त तैल में पकाया होगा उस समयकी वेदना क्या नरककी वेदनासे किसी प्रकार न्यून हो सकती है ? कदापि नहीं, किन्तु नरकों में तो केवल तप्त तैलादिमें ही पकाया जाता है।

मुझे तो लवण, मिरच, सोंठ, पीपर आदि तीक्ष्ण मसालों में मिश्रितकर पकाया जिसमें एकतो अग्निकी वेदना दूसरे मसालों का कष्ट तिसपर भी पक्व हो जाने की परीक्षा के अर्थ लोहके नोकदार कीलों से बारबार छेदना इत्यादि कष्टों का कहाँ तक वर्णन करूँ ? जिन दुःखों को वाग्वादिनी भी नहीं कह सकती।

पकते हुए मेरे शरीर को करछों से चलायमान करते हुए सूपकारों (रसोईदारों) ने पकाया, पश्चात् बहुत जीरा, मिरच,लवण आदि से पूरित कर मेरे शरीरके स्वादों को चखने लगे।

राजन् ! उस समय सप्तम नरकके नारकीकी भांति उछलि २ कर पच्यमान हुआ पश्चात् उस पक्वगात्र को करोतों से छिन्न–भिन्न

कर लोहेके कंटकों से ब्राह्मणों ने भक्षण किया । तत्पश्चात् मेरे पुत्र यशोमति, मेरी स्नेहवती अमृतमतीका जार कूबड़ा आदि समस्त परिवार ने भोजन किया।

नृपश्रेष्ठ ! देखो संसार की विचित्रता कि पितर के (मेरे) ही निमित्त मुझे ही भक्षण कियासो यह समस्त अशोभन कर्म जिह्व लंपटी मांसभक्षी विषयासक्त ब्राह्मणों का ही कर्त्तव्य है, क्योंकि विप्रों के उपदेशसे समस्त अज्ञानी लोग हिंसा कर्म को धर्म मान अंगीकार करते हैं इस कारण समस्त दोष ब्राह्मणों के ही ऊपर है।

तदनंतर-मेरी माता का जीव शंशुमार के शरीर से निकल पार्श्वग्राम में बकरी हुई और मैं भी मच्छ की पर्याय से प्राण त्याग दैवयोगसे उसी बकरीके गर्भ से उत्पन्न होकर बकरा हुआ। यह तो मैं ही जानता हूँ या केवली भगवान् ही ज्ञात कर सकते हैं।

पश्चात् क्रमपूर्वक वृद्धिंगत होता जब यौवन प्राप्त हुआ तब कामांध होता अपनी माता बकरी से मैथुन कर्म करता था। उसी समय यूथके स्वामी बकराने ईर्षायुक्त क्रोधके आवेश में मुझे मारा सो मैं मरण को प्राप्त होकर अपने ही वीर्य से उसी बकरी के गर्भ से बकरा उत्पन्न हुआ ।

यहां पर कोई "शंका" करे कि अपने ही वीर्य से आपका जन्म किस प्रकार हो सकता है ? तो उसका समाधान इस प्रकार है कि जिस समय स्त्री का रूधिर और पुरूष के वीर्य का संयोग होता है उस समय से सात दिवस पर्यंत उसमें जीव आता है, सो सात दिन तक मिला रहता है और यदि सात दिवस के अंदर जीवोत्पत्ति न होवे तो वह पृथक् होकर खिर जायेगा।

इसी प्रकार जिस समय बकरी के रूधिर और बकरा के वीर्य का संयोग हुआ उसी समय बकरे का मरण हुआ सो वह तत्काल उसी के गर्भ में जाकर उपस्थित हो गया इससे पुनः दूसरी पर्याय में भी बकरा ही हुआ।

राजन् ! तिर्यंचों में लज्जा नहीं होती, माता को स्त्री बना लेना सहज है । इस प्रकार मैंने भी माता के साथ भोग किया सो जिस समय मुझे उस वार्ता का स्मरण होता है मुझे तीव्र वेदना होती है।

नृपश्रेष्ठ ! जब मैं पुनः बकरी के गर्भ में आया और क्रमपूर्वक वृद्धि को प्राप्त होने लगा तब यशोमति महाराज मृगया (शिकार) के अर्थ वनमें पधारे सो मृगों के अर्थ समस्त वन में परिभ्रमण किया परन्तु एक भी हिरण न मिला।

उस समय जब लौटकर मार्ग में आए तो क्या देखा कि मेरी माता बकरी और यूथ नामक बकरा दोनों मैथुन कर्म में तत्पर हो रहे हैं। उस समय क्रोध के आवेश से कुसुमावली के भर्त्तार यशोमति महाराज ने निज भाला की नोंक से दोनों का घात किया पश्चात् निकट आकर देखने लगे।

बकरा–बकरी दोनों ही दो खंड होते और रूदन करते मरण को प्राप्त हो गये, तथा गर्भवास में तिष्ठते मेरे आठों अंग कंपमान देखे।

उस समय यशोमति नरेश ने बकरी के उदर से निकलवाकर मुझे बकरा पालक के हस्तगत किया उसने यत्न पूर्वक अन्य बकरियों का दुग्धपान कराकर मेरा पालन–पोषण किया सो मैं उसके गृह में वृद्धि को प्राप्त होता रहा। परन्तु पशु योनि सम्बन्धी अज्ञान दशा में ग्रसित होकर माता भगिनी और बेटी आदि से मैथुन सेवन करता यूथका स्वामी हो सुख पूर्वक काल व्यतीत करने लगा।

इतने में एक दिन यशोमति महाराज ने कुलदेवता के सन्मुख इस प्रकार प्रार्थना की कि हे मात ! हे भटटारके, हे महिष–विदारिणी, हे भगवति, तेरी कृपा से यदि मुझे मृगया का लाभ हुआ तो घोटक तुल्य वेगवान् महिष की बलि दूँगा।

ऐसा कहकर राजा ने शिकार के अर्थ महारण्य में प्रवेश किया सो वहां तत्काल शिकार का लाभ हुआ। पश्चात् लौटकर घर को आए, वहां देवी के अर्थ स्थूल महिषा बुलाया और उसे मार उसके मांस से देवी को रसवती की।

उसी समय रसोईदारों ने मुझ यूथनायक बकरे को लाकर वहीं बांध दिया सो दैवयोग से एक चील ने किसी जंतु का मांस लाकर मेरे निकट डाल दिया सो मैं उसें सूंघकर तत्काल उछल गया तब मुझे पुनः लम्बी डोरी से ऐसा बांधा जैसे संसारी जीव कर्मों के बन्धन से बन्ध जाते हैं।

तत्पश्चात् कृतकर्म महीनाथ यशोमति ने ब्राह्मणों के निमित्त मांसरस घृत प्रवाह और दुग्धादि भोजन के अर्थ देवी के अग्रभाग में महिषकी बलि देकर इस प्रकार कहा–

हे परमेश्वरि ! हे त्रिशूल कपाल धारिणी, हे महिषके आमिष वसा और रूधिर की पीने वाली। हे कात्यासनि। मेरे पर प्रसन्न हो, ऐसा कहकर राजा मांस उतारण कर बलि देता भया।

राजन् ! अज्ञानी जन हिंसाकर्म करते किंचित् भी शंकित नहीं होते उन मिथ्या मार्गियों के हृदय में इस बात का पूर्ण विश्वास हो रहा है कि दीन पशुओं की बलि देने से देवी प्रसन्न होकर समस्त कार्यों की सिद्धि करती है।

हा, धिक्कार हो उन मूर्खों की बुद्धिपर, कि जो पर जीवों का घातकर निज कार्य की सिद्धि मानते है।

तत्पश्चात् अन्य जनों के अर्थ बहुत घृतयुक्त महिष के मांस के ग्रास दिये, तथा क्षुधा के विकार को दूर करने वाले भोजन योग्य अनेक रसयुक्त मदिरा और मूँग की दाल भी दी।

तदनन्तर अनेक वस्त्र और गौओं का दान देकर महाराज ने कहा कि यह हमारा समस्त दान स्वर्ग में तिष्ठे हुए हमारे पिता के निकट पहुंचे।

राजन् ! उस समय क्षुधा तृषा से पीड़ित मैं बकरा उसी स्थान प्रति दृढ़ रज्जु से बँधा हुआ था, सो महाराज यशोमति के वाक्यों से जाति–स्मरण को प्राप्त होकर निज हृदय में विचारने लगा कि इस

समय तो मैं वस्त्र अलंकार वर्जित भूखा प्यासा रस्सी से बंधा हुआ हूं, मेरे पुत्रने गर्व रहित अनेक प्रकार दान किया, सो निकट तिष्ठे हुए मेरे को कुछ नहीं मिला तो अन्य दूरवर्ती जीवों को किस प्रकार मिलता होगा।

नृपवर ! उस समय मेरा समस्त परिवार अनेक रसयुक्त व्यंजनों का भोजन करे व मैं वहीं पर भूख प्यास से पीड़ित सबके मुख की ओर देखूं, किंतु किसी ने यह भी न कहा कि एक ग्रास इसे भी देदों।

जब कि मेरे निमित्त असंख्य धन का दान किया गया और निकट तिष्ठे हुए मुझे किंचित् भी न मिला तो निश्चय हुआ कि समस्त दान ब्राह्मणोंके उदर पूर्णार्थ ही होता है किन्तु किसी जीवको नहीं मिल सकता।,

श्रीनाथ ! जिस समय मेरा पुत्र यशोमति निजमाता सहित भोजन करता निकटस्थ जीवों को रंजित करता था उस समय मैंने समस्त परिवार और अन्तःपुर को देखा, परन्तु निज प्रिया अमृतमती को न देखा। इतने में गलित मांस की दारूण दुर्गन्ध आयी उस समय एक दासी ने दूसरी दासी से कहा।

एक दासी—प्रिय भगिनी, कैसी मृतमहिष के सड़े हुए मांस की दुर्गन्ध आती है जिससे नाक फट जाती हैं। बहिन यह महापूति गन्ध कहां से आई ?

दूसरी दासी—अरी मुग्धे ! तू तो निरी भोली है, कहीं ऐसी गन्ध सड़े हुए भैंसा की होती है ? बहिन ,यह तो मछली के सड़े मांस कैसी मालूम होती है। आहा ! यह तो नाक फाड़े डालती हैं।

तीसरीः- (नाक बंद करती) अरी चलो यहां से,इस महा दुर्गध से वमन हुई जाती हैं। हाय—हाय यह कहांसे आई बहिन ! मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि महारानी अमृतामती के गलित कुष्ठ से यह बीभत्स गंध आती है।

अन्य दासी- (हाथ चलाती हुई) अरी ! सबकी सब पागल हो गई हो , कुछ मालूम भी है कि यों ही अपनी २ टर्र टर्र मचा रक्खी है।

एक दासी- (मुंह बनाकर) यह आई बड़ी पंडिता कहींकी जो तुम जानती हो तो तुम्हीं कहां, कोरे हाथ क्यों चलाती हो।

वही दासी- (धीरेसे) सुनों मैं कहती हूँ। एक बात की सबकी सब शपथ खाओ कि किसीसे मेरा नाम तो न लोगी। सबने शपथ खाई, पश्चात् वह दासी कहने लगी–

इस दुष्टनी अमृता ने प्रिय जार कूबड़ा के निमित्त भोजनों में हलाहल विष देकर निज भर्त्तार महाराज यशोधर और अपनी सास महारानी चन्द्रमती को प्राणांत किया है जिसके पाप से उस का ओष्ठ, हस्त, पाद आदि सर्व अंग कुष्ठ रोग गलित हो रहे हैं उसी की यह महादारूण दुर्गन्ध है समझी ?

नृपवर ! उपरोक्त प्रकार दासी के वचनों से मेरा भी चंचल चित्त गृह के मध्य शयन करने वाली अमृता की ओर गया और उस समय राजन् ! कामिनी (दासी) के वचनों को सुनकर अमृता देवी के मुख को देखा तो मुझे ऐसा ज्ञात हुआ जैसा भोजन के समय मांस का पिण्ड होता है।

नृपवर ! उस समय समस्त अवयवों कर रहित अशुभगात्र अमृता को मैंने बहुत देखा तो भी उसे न पहिचान सका। अर्थात उसकी अवस्था क्षण–क्षण अन्य–अन्य प्रकार होती जाती थी।

पृथ्वीनाथ ! उस समय रानी की दशा देखकर यही निश्चय होता था कि इस समय पर पुरूषासक्ता व्यभिचारिणी से दोषित होकर विधाता ने इसकी यह अवस्था बनाई, अर्थात् जो ओष्ठ जार की दृष्टि में विंबाफल (किंदूरी) समान भासते थे वे समस्त गल गये।

जो नख प्रिय जार के वक्ष स्थलों को चिह्नित करते थे वे अतिशय नष्ट भ्रष्ट हो गये जो श्वेत श्याम और रतनार नेत्र जारकी दृष्टि में

श्वेत श्याम और आरक्त कमलदल तुल्य ज्ञात होते थे वे फूटी कपर्दिका (कोड़ी) तुल्य हो गये।

जो पीनोन्नत कुचयुगम जार पुरूष के कराग्रह से भूषित होते थे वे पीव और रुधिर कर पूर्ण फूटे घट तुल्य हो गये।

जो केशभार जार के नेत्रों में भ्रमर विनिन्दित ज्ञात होते थे उसका नाम निशान तक न रहा।

भावार्थ– जो–जो अंग प्रिय जार कूबड़ा ने अपने हाथों से स्पर्शित किया वह सर्व गात्र विधाता ने क्रोधित होकर जारकर्म का फल प्रत्यक्ष दिखाने के अर्थ नष्ट–भ्रष्ट कर दिया।

नृपवर ! अतितीव्र पाप का फल प्रत्यक्ष होता है, और यदि ऐसा न होता तो सकल संसार पाप से क्यों कर भयभीत होता ? परन्तु प्रत्यक्ष देखते हुए भी दुष्ट जनों को बोध नहीं होता यह उनके भवितव्य का दोष है।

नृपवर ! जिस समय में उपरोक्त विचार में मग्न था कि इतने में उस पापिनी अमृता ने पुकारकर रसोईदार से कहा–

जो देव और ब्राह्मणों के अर्थ उतारण कर पूजन किया उस मांस से पूरी पड़ो, दूर तिष्ठो, वह घृणास्पद ग्लान कारक महिष का माँस जो लाकर दिया वह मुझे नहीं रुचता।

राजन् ! उस समय कुष्ट रोग पीड़ित अमृता ने रसोईदार से और भी पुकारकर कहा कि अब मेरे अर्थ सूकर या हिरण का माँस शीघ्र लाकर दो जिसे मैं रुचिपूर्वक भक्षण करूँगी।

इस प्रकार रानी की पुकार सुन निकट तिष्टे महाराज यशोमति ने कहा कि इस समय सूकर और हिरण के मांस का मिलना तो दुष्कर है, किंतु बकरे का मांस भी भट्ट लोगों ने मिष्ठ कहा है इससे हे रसोईदार ! तू इस बकरे के पीछे के पग को काट इसे पक्वकर माता को भक्षणार्थ दो।

नृपवर ! उस समय निकट बन्धा हुआ मैं राजा की आज्ञा सुनकर सकंपगात्र होता निज हृदय में विचारने लगा–

हा ! बड़ा कष्ट है कि मेरा ही पुत्र मेरा पग भग्न कर मेरी स्त्री के भोजनार्थ देने की आज्ञा देता है तो अब मेरी रक्षा कौन कर सकता है, इस कारण कर्म फल विचारता संतोष पूर्वक चुप हो गया।

पश्चात् महाराज यशोमति की आज्ञा न पालने में असमर्थ रसोईदार ने तीक्ष्ण छुरिका से मेरा पद काट उत्तम मसालों सहित घृत में पक्वकर अमृता को दिया सो वह कृष्ट व्याधि पीड़ित दुर्गन्ध । गात्र दुष्टा ने रूचिपूर्वक भक्षण किया।

पृथ्वीनाथ ! मांसभक्षी जिह्वालंपटी विप्रों की बातों में आकर जो मनुष्य हिंसा कर्म करता है वह अवश्य ही तीव्र वेदना युक्त नरकों की पृथ्वी में जाकर अनेक कष्ट सहन करता है।

पश्चात् अनन्तकाल पर्यत कुयोनियोंमें भ्रमण करता असंख्य क्लेशों का पात्र बनता है।

पृथ्वीनाथ ! उस समय पगभग्न हो जानेसे तीव्रवेदना सहन करता तीन पगोंसे खड़ा २ दिशाओं की ओर देखता विचार करने लगा कि अब मैं किसका आश्रय ग्रहण करूँ जबकि मेरे पुत्र ने ही आदेश देकर पग तुड़वाया तो अब किसकी शरण जाऊं

जो माता चन्द्रमती का जीव बकरी होकर पापफल भोगती भई वह मरणको प्राप्त होकर अमरसिन्धु देशमें महिषी (भैंस) के उदरसे भीमबली महिष (भैंसा) हुआ।

राजन् ! एक दिन भ्रमण करता महिष सिप्रा नदी के जल में निमग्न हो रहा था उसी समय खड्गधारी योद्धाओं कर रक्षित, निज पाद्घात से धरातल को भग्न करता, महाराज यशोमति की सवारी का घोड़ा जल पीने को आया। उस समय उस घोड़ाको देख जातीय वैर से क्रोधित होकर महिषी ने निज मस्तक और तीक्ष्ण श्रृंगोंसे उसे विदीर्ण किया।

पश्चात् राजकिंकरों ने जिस तिस प्रकारसे महिषीको बांध महाराज यशोमतिके निकट ले जाकर निवेदन किया कि श्री महाराज! आपकी सवारी का घोड़ा इस दुष्टने मारा है इससे यह सदोष है सो आप जो आज्ञा देवें वही किया जाए ।

नृपवर ! उस समय यशोमति घोड़ा के मरणका शब्द किंकरों के मुखसे सुन प्रथम तो स्तब्ध हो गए, पश्चात् क्रोधानल से प्रज्ज्वलित होकर सहसा आदेश करते हुए कि इस अश्व घातक दुष्ट महिष को इस प्रकार मारो कि जिससे बहुत विलम्ब में इसका जीवन नष्ट हो।

तत्पश्चात् रसोईदार को बुलाकर महाराज ने आदेश दिया कि इस महिषी को जीता ही पकावो जिससे इसे घोड़ा के मारने का अपराध स्मरण रहे।

पृथ्वीनाथ ! इस प्रकार महाराजके आदेशसे रसोईदारों ने तत्काल उस महिषीकी नासिकामें रस्सी डालकर उसके मुखको और पगों को बांध लोहके कढ़ाहमें छोड़ दिया।

पश्चात् कड़ाहके नीचे अग्नि प्रज्वलित की तदनंतर लवणादि क्षार युक्त सोंठ, मिरच, पीपल आदि तीक्ष्ण पदार्थों के जलके उसका गात्र सींचा ।

नृपश्रेष्ठ ! एक तो अग्नि की तीव्र वेदना, दूसरे तीक्ष्ण और क्षार पदार्थोका क्लेश इससे वह महिष तड़फता हुआ जिह्वा निकालकर बिरस शब्द करता रहा।

तृष्णाकार शोषित जैसे तैसे बिरस शब्द करते महिष ने वह क्षार जल पिया जिससे उसके मर्मस्थानोंका घात होकर अंत्रजाल (आंतों के समूह) पश्चिमद्वार से निकल पड़े।

जब जहां तहां पक्व होने लगा तब रसोईदारों द्वारा तीक्ष्ण शस्त्र छेदकर पश्चात् चंद्रमती के नामपर उत्तम ब्राह्मणों को दिया गया।

राजन् ! मेरी माता चन्द्रमती के जीव महिषकी तो यह अवस्था हुई, अब मेरी क्या दशा हुई सो भी सुन लीजिये अर्थात् जहां महिषकी

दुर्दशा हो रही थी वहीं पर रक्षा रहित पगकी वेदनासे पुकारते हुए मुझे देख राजाकी आज्ञानुसार दोनोंने मुझे पकड़कर प्राणघातक प्रज्वलित अग्निपुंज में क्षेप दिया।

पश्चात् जैसा ही पक्व होता था वैसा ही काट काटकर डाभ लिये संकल्प पढ़ते ब्राह्मणों को मेरी (महाराज यशोधरकी) तृप्तिके अर्थ देते जाते थे और विप्र समूह बड़े स्वाद से भक्षण करते आशीर्वाद देते थे।

राजन् ! मारिदत्त ! संसार की विचित्रता और ब्राह्मणों की स्वार्थपरायणता देखो कि मेरी तृप्तिके अर्थ हम दोनों के शरीर–का घात किया जाय और ब्राह्मणोंका उदर पूर्ण किया जाय !

धिक्कार है इस कपट पूर्ण चातुर्यको कि जिसके उपदेशसे असंख्य जीवोंका अधः पतन होता है।

पृथ्वीनाथ ! यह भी एक अन्धेर ही है कि उदर पूर्ण होवे किसीका, और तृप्ति होवे किसीकी, परन्तु अज्ञानी मूर्ख जन इसी निंद्य उपदेशको श्रवण कर शीघ्र मान बैठते हैं और अपना अकल्याण कर लेते हैं। धिक् धिक् धिगस्तु ।

श्रीमान् ! उस समय अग्नि की तीव्र वेदना सहन करते हम दोनों अर्थात् महिष और बकराके प्राण एक साथ निकले सो वहां से उज्जैनीके निकट मातंग भीलों के नगरके वाड़ेमें जन्म लिया । जहां किसी स्थान पर गौओंके मस्तकोंके अस्थि पुंज पड़े हुए हैं, कहीं पशुओं के गलित कलेवरसे निकलते लटोंके समूह एकत्रित है।

कोई स्थल पशुओं के कलेवर से पड़ते रूधिर से व्याप्त हो रहा है। जहां की भीतें अनेक प्रकार के सघन चर्मसे आच्छादित हैं। जहांका आंगण मृग ओर मेषोंके श्रृगों से संकुलित और कुर्कुटोंके चरणों के प्रहार से उठी धूलिकर धूसरित है।कोई प्रदेश बिखरे हुए मृत शरीरकी मालाओंके समूहसे पूर्ण है।

किसी स्थान पर अग्नि द्वारा पकते कुत्तोंके कलेवर के रसकी आशासे पड़ते काकों के समूह विरस शब्द कर रहे हैं।

किसी स्थान पर मांस वसा और चर्म के धूम्र की लहर उठ रही है।

राजन् ! उसी महाघृणा स्पद मातंग के गृह में अनेक कुर्कुट (मुर्गा) पले हुए थे।

हम दोनों ही जीव कूकड़ी (मुर्गी) के गर्भ में उत्पन्न होकर पश्चात् दोनों बालक नवीन रूपके धारक अंडा से बाहर निकलते हुए।

राजन् ! हम दोनोंका जन्म हुए पश्चात् हमारे पिता मुर्गे को बिलावने ऐसा पकड़ा कि उसके कंठका अस्थि भग्न होकर वह प्राणांत हो गया।

तदनंतर किंचित् काल व्यतीत हुए पश्चात् हमारी माताको भी मार्जारने भक्षण किया। अब हम दोनों कूकड़ा (मुर्गा) कूंकूं शब्द करते उस चांडाल के अमनोज्ञ गृहके आंगणमें विचरने लगे।

उस समय घरकी स्वामिनीको हमारा शब्द सहन न होने से उसने एक अस्थि खण्डसे हमारे दोनोंके पगोंको भग्न किया।

राजन् ! इतने पर भी वह चुप न हुई, किन्तु उसने हम दोनों कुर्कुटों के पग बांधकर मांस लिप्त और कलेवर पूर्ण घरमें चर्म निर्मित ढक्कन के नीचे बंदकर दिया । उस समय उदयागत कर्मफल भोगते दुर्द्धर गृहमें कालक्षेप करने लगे।

नृपवर ! पूर्व, में जिस समय मैं यशोधर नाम का मंडलेश्वर राजा था उस समय मैंने जिस प्रकार अनेक नृपगणों को बंदी बनाकर कारागृह में स्थापित किया था उसी कर्मका यह फल मिला कि चांडाल के दुर्गंधपूर्ण गृह में पग बंधे हुए हम दोनों ही रक्खे गए।

पृथ्वीनाथ ! यह जीव जिस समय परजीव को दुःख देता हुआ कुत्सित कर्म करता है उस समय उसे इस बातका किंचित् भी विचार नहीं होता कि इस दुष्कर्मका क्या फल मुझे मिलेगा।

किन्तु जब उस कर्मके फल को भोगता है उस समय यह विचार उत्पन्न होता है कि मैंने पूर्व अवस्थामें जो अशुभ कर्म किये थे उनसे असंख्य गुणित दुखों का पात्र बनना पड़ा ।

उस समय पश्चात्ताप करता है कि हाय! पूर्व दशामें यदि पाप कर्म न करता तो ये दुःख क्यों देखना पड़ता ?

इत्यादि अनेक प्रकार पीड़ित होता है उसी प्रकार हम दोनों कुर्कुट चांडालके गृह में पड़े हुए पश्चात्ताप रूप अग्नि से संतप्त हो रहे थे।

शीत उष्ण पवन से पीड़ित और क्षुधा तृषा से आशक्त चांडाल के गृह में निवास करते हुए दुःखोकी परम्पराको प्राप्त हुए।

नृपवर ! उस चाण्डाल के गृह में दुःसह कष्ट पड़ने से दुःखित अंग हम दोनों कुर्कुट अन्य प्राणियों के प्राणों को पीड़ित करते भक्षण करने लगे।

राजन् ! अब हम दोनों ही विचित्र चित्र वर्ण पुच्छसे सुंदर और तीक्ष्ण चंचुसे भूमिगत सूक्ष्म जन्तुओंका भक्षण करते परस्पर चपलतापूर्वक चरण युद्ध करते पृथ्वी की रजसे धूसरित गात्र होते, जीव राशिके खण्डन में प्रवीण इतस्ततः घूमने रूप स्वभावके धारक और चौरोंकी घातमें रक्त होकर क्रीड़ा करने लगे।

इसी प्रकार भ्रमण करते हम दोनोंको सत्पुरूषों के अभिप्रायसे पृथक् कोटपाल ने देखा सो प्रसन्नचित होकर चाण्डाल द्वारा अपने निकट बुलाकर हमारे गात्र पर स्नेहपूर्वक हाथ फेरा सो हमको आनन्द हुआ मानो पूर्व जन्मके पुत्र यशोमति के ही हस्तगत हुए हों।

नृपवर ! एक दिवस हम दोनों ही कोटपाल के द्वार के अग्र भागमें क्रीड़ा करते थे इतने में दैव योगसे महाराज यशोमति की सवारी उधरसे निकली सो रूप ऋद्धिके भाजन हम दोनोंको स्नेहपूर्ण रूचिकर नेत्रोंसे देख कोटपालसे कहने लगे –

ये दोनों कूकड़े शारीरिक लक्षणों की परीक्षा करनेसे अति उत्तम ज्ञात होते हैं इस कारण इन दोनों बच्चोंको गृहांगण के जल और अन्नसे तृप्त कर इनका यत्नपूर्वक पालन पोषण करो।

कोटपाल ! जब ये जवान होंगे तब अपनी सुन्दर चंचु और तीक्ष्ण नखों से पक्षों को फड़फड़ाते हुए शत्रु वर्गका क्षय करेंगे। ये दोनों बालक यौवनारंभमें निज चरणों की घातसे पृथ्वीतल को खोदते, रक्त नेत्र करते, भृकुटीके विकार को प्रकाशित करते, निंज कण्ठगत केशरीको फुलाकर जब युद्ध करेंगे उस समय गमन करते पथिकजनोंके चित्त को मोहित करेंगे।

उसी समय हम भी इनके युद्ध की कुशलता देखेंगे इस कारण तुम इनको यत्नपूर्वक रक्खो।

राजा का उपरोक्त प्रकार आदेश श्रवण कर कोटपालने अपने घर में हमें स्थापन किया पश्चात जब रात्रि व्यतीत हुई तब प्रभात समय पिंजरा स्थित हम दोनों को वनमें जहां राजा उपस्थित थे वहां ले गए।

वह वन मन्द पवन कर हालते वृक्षों के पत्र तथा पक्षियोंके कलकलाहट शब्द से पूर्ण था। उस वनमें स्वच्छ चञ्चल वेगयुक्त जलके निर्झरनों के जलसे कूप तड़ाग पूर्ण हो रहे थे, जिसमें फूले हुए कमल और तटोंके वृक्षों पर बैठे अनेक पक्षीगण मनोहर शब्द करते थे, जहां पवन कर हालते लताओं के पत्रमें मिले हुए पक्षियों के पक्ष कैसे चित्रित हो रहे थे। जिस अरण्यमें अनेक जाति के वृक्षों के विविध वर्णयुक्त सुगन्धित पुष्पों से पड़ती रज से जहाँ तहाँ मण्डल बन रहे थे।

जिस वन की मालती लताओं के मण्डल में तिष्ठते क्रीड़ा करते करते किन्नर युगलोंके हाथ के बजाये हुए वादित्रों के शब्द से हिरणों के समूह मोहित होते थे।

वह मनोहर वन, आकाश से उतरते देवोंके विमान शिलातल पर तिष्टते क्रीड़ा करते विद्याधर गणों से अति रमणीय दृष्टिगत होता था।

जिस वनमें कहीं गंभीर कर्दम में सूकर समूह लोटते और कहीं मदोन्मत्त हाथियों के दाँतों से भिदे चन्दनादि के वृक्षों से सुगंधि निकल रही थी।

वह अरण्य पुरवासी स्त्रियों द्वारा ग्रहण किये हारोंसे देदीप्यमान चन्दनादि वृक्षोंसे सघन, शुक सारिका आदि पक्षियोंके समूह से व्याप्त और पालाके समूह समान श्वभ्रवर्ण हंसोंके युगलों कर पूर्ण अत्यन्त शोभायमान दृष्टिगत होता था।

नृपवर ! उसी रमणीय उद्यानमें महाराज यशोमति का रमणीक और स्वच्छ मन्दिर था, जिसके अवलोकन से ऐसा ज्ञात होता था मानों देव विद्याधरों ने रमण करनेके निमित्त मायामयी महल निर्मापित किया है।

उस यशोमति नृप के आंगण में किंकिणी (क्षुद्रघंटिकाओं) कर वाचलित पंचवर्ण और वस्त्र निर्मित मण्डप में पिंजरा सहित हम दोनों ऐसे स्थापित किये गये मानों यमके मुख में ग्रास ही स्थापन किया हो।

उस वस्त्र नव निर्मित मण्डप के निकट ही परताप विनाशक शीतल, रक्त पत्रोंकर व्याप्त अशोक वन नरनाथ की भांति शोभा दे रहा था। क्योंकि राजा भी परताप नाशक शीतल और उक्त वस्त्रों से व्याप्त था।

नृपवर ! भवितव्यताके अनुसार उस चोरनिवारक, परस्त्री लंपटोंको विघ्न स्वरूप और हिंसामें प्रवर्त्तक कोटपालने अशोक वृक्षके नीचे प्रासुक शिलापर ध्यानारूढ़ तिष्ठे श्री मुनिराज देखे।

वे श्री मुनि इस और परलोक की आशाके बन्धन से रहित रागद्वेषादि दोषोंसे विरक्त, शुभ मन शुभ वचन और शुभ योग इन तीनों शुभ योगोंकर युक्त, मन वचन और कायके अशुभ योगों से विरक्त, माया मिथ्या और निदान इन तीनों शल्यों के नाशक, लोकत्रयके विजेता कामदेवका खंडनकर लोकत्रयके मंडन थे।

श्री सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनों रत्नोंकर विभूषित, क्रोध मान माया और लोभ एवं कषाय चतुष्करूप घृत के भस्म करने को अग्नि समान, आहार भय मैथुन और परिग्रह इन चार संज्ञाओंसे दूर तिष्ठे, ईर्या, भाषा एषणा, आदाननिक्षेपण और प्रतिष्ठापन

इन पांच समिति के प्रतिपालक तथा पांच मिथ्यात्व, बारह अव्रत, पच्चीस कषाय और पंद्रह योग एवं सत्तावन आश्रवोंके निरोधक वे मुनि थे।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन पंच महाव्रतरूप भारके वहनेमें धुरंधर, अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पच परमेष्ठीके भावके प्रकाशक, तथा पंचपरमेष्ठी में पंचम पदके धारक साधुओं के नायक, पंचम गति जो मोक्ष है, उसके विधायक, दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार इन पंच आचारों के धारक, पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय एवं पंच स्थावर तथा द्विइंद्रिय, तिइंद्रिय, चौइंद्रिय और पंचेंद्रिय एवं त्रसकायके जीवों की दयामें अति तत्पर थे।

सप्त भयरूप अन्धकार के नष्ट करने में सूर्य समान, ज्ञान पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि ,तप और शरीर इन अष्ट मदों के दूर करने में आदरयुक्त, तथा अष्टम पृथ्वी (मोक्ष) के गमन में तत्पर, सिद्धोंके अष्ट गुणों में तल्लीन, नवधा ब्रह्मचर्य के धारक तथा ब्रह्म (आत्मा) के ज्ञाता उत्तम क्षमादि दशधा धर्म के प्रतिपालक थे।

स्पर्शन, रसना घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पंच इंद्रिय मन, वचन, और काय इन तीन बल श्वासोच्छ्वास और आयु इन दश प्राणों के धारक जीवों के रक्षक इत्यादि अनेक गुणों के भण्डार श्री मुनि–पुंगव को देखा।

जिन मुनि पुंगव ने श्रावकों की एकादश प्रतिमाओं का विचार कर वर्णन किया तथा जिन्होने द्वादश विध तप और त्रयोदश प्रकार चारित्र का प्रतिपादन किया।

क्रोध, मान, माया और लोभ की सेना सहित जिस कामदेवने तीन जगतको निर्जित किया, उसी नग्न मुद्राधारक परम दिगम्बर शांतिमूर्ति श्री आचार्यवर्य को देख रोषचित्त होता कोटपाल निज हृदय में चिंतवन करने लगा।

इस दुष्ट ! गर्विष्ठ पापिष्ठ मलिनगात्र और क्लेशित नग्न मुनि ने यह मेरा अत्युत्तम स्थान अपवित्र किया, तथा महा अपशकुन किया इस कारण श्री महाराज यशोमति के मनोरंजक स्थान से इस श्रमण को अवश्य निकालूंगा।

परन्तु इस समय उदासीन भाव से रहना योग्य है पश्चात् किंचित् विलम्बकर इस श्रमण से ऐसा अटपटा प्रश्न करूंगा, कि जिसका उत्तर ही न बनें, फिर क्या है तत्काल मूर्ख बनाकर इस वस्त्र रहित को निकाल दूंगा।

इस प्रकार विचारकर मायावी कपटाचारी यमराज तुल्य कोटपाल ने श्री मुनिको साष्टाँग नमस्कार किया पश्चात् ध्यान पूर्ण होने पर श्री मुनि को यद्यपि इस बात का ज्ञान हो गया था कि यह अभक्त दुष्टचित्त है तथापि समभावी मुनि ने उसे जिनेन्द्र कथित धर्मकी वृद्धि हो ऐसा आशीर्वाद दिया ।

तृण और कंचन है समान जिनके ऐसे महाऋषीश्वर निंदकों के प्रति मात्सर्य भाव नहीं करते और न प्रशंसकोंमें हर्ष बढ़ाते हैं। उन महामुनियों के शत्रु मित्र में समान दृष्टि है।

अभयरूचि कुमार क्षुल्लक महाराज मारिदत्त से और भी कहने लगे–राजन् ! जिस समय उन समभावी मुनिराज ने धर्मवृद्धि हो ऐसा शब्दोच्चार किया उस समय धर्म ऐसा शब्द श्रवण कर कोटपाल ने कहा

कोटपाल– ऋषिवर ! आपने जो धर्मवृद्धि रूप आशीर्वाद दिया वह शिरोधारण किया, परन्तु वीरधुरीण योद्धाओं के मत में तो धनुष ही धर्म है तथा उसकी प्रत्यंचा गुण और शत्रु विध्वंसन निमित्त जो वाण छोड़ा जाता है वही मोक्ष है।

इसके सिवाय न कोई धर्म है न गुण है और न कोई मोक्ष है सो जब कि मोक्ष ही नहीं तो मोक्ष सम्बन्धी सुख कैसे कहा जाय ? इस कारण पंचेन्द्रियों के विषय में जो आनंद है वही सुख है और उसी सुखको मैं सुखकर मानता हूँ।

मुने ! तुम इस अरण्य में निवारा कर क्या करते हो, यह दुर्बल शरीर तिरा पर भी वस्त्र नहीं, कंबल नहीं, पांव में पगरखी (जूता) नहीं, शिर पर पगड़ी नहीं, तुम्हारे आठों अंग क्षीण खेद खिन्न और मललिप्त प्रक्षाल रहित गात्र, नेत्र कपाल में घुस गए हैं, रात्रि दिन में एक निमेष मात्र भी निद्रा नहीं लेते।

इस प्रकार नेत्र बन्दकर किसका ध्यान करते हो, इसमें तो हमारे सरीखे मनुष्यों को भ्रांति उत्पन्न होती है इस कृत्य में आपको क्या लाभ होगा, इससे तो उत्तम यही होगा कि इस कोरे आडम्बर को छोड़ विषय भोगों का रूचिपूर्वक सेवन करो। इस प्रकार कोटपाल के वचन सुनकर श्रीमुनि ने कहा–

मुनिराज - भ्रातृवत् ! जीव ओर कर्म इन दोंनों का विभाग कर परमात्मा में लीन होकर अजर अमर और शाश्वत स्थान जो निर्वाण है वहां प्रति जाने की कामना करते तिष्ठे हैं और उसी के प्रति लय लगाये हुए हैं।

प्रियवर ! तुमने जो दुर्बल मलिन ओर वस्त्र रहित शरीर की निन्दा की सो इस संसार–चतुर्गति में भ्रमण करते पुरूष स्त्री नपुंसक सौम्य शांति और क्रूर प्रचण्ड हुआ। यमदूत तुल्य राजा, पयादा, सेवक, दीन दरिद्री रूपवान्, कुरूप, धनवान उज्ज्वल गात्र, नीचकुली, उत्तमगोत्र, बलहीन ओर अतुलबली भी अनेक बार हुआ। इस भ्रमण स्वभावी संसार में ऐसी कौन सी पर्याय है जिसे इस जीवने धारण न किया हो।

मनुष्य भवके भ्रमण में आर्य म्लेक्ष दरिद्र और धनवान् हुआ पश्चात् क्षत्रिय ब्राह्मण होकर चांडाल हुआ। इस संसार की गति अति विषम है।

इस चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण करते भयानक अरण्य में मांसाहारी क्रूर पशु हुआ, तृणभोजी तिर्यंच हुआ पश्चात् रत्नप्रभादि नरकों की भूमि में महाघातक को सहन करने वाला नारकी हुआ। पुनः जलचर थलचर और नभचर तिर्यंच होकर पापाचारी देव हुआ। इस

प्रकार जन्म मरण रूप भँवर में पड़ा रत्नत्रय रहित अनन्त शरीर धारण किये इसी प्रकार जीव ने मरते दुःखों को सहन करते और पापफल भोगते अनंतान्त काल व्यतीत हुआ।

कोटरक्षक ! अनरक्षक संसार में जो जो क्लेश मैने सहे उन सबको मै जानता हूँ। इसी कारण इन्द्रिय जनित विषय सुखों से विरक्त होकर भिक्षा भोजन करता हूँ सो भी आत्मा को कष्ट देता हुंआ स्तोक आहार लेता हूँ।

निर्जन वन में निवास कर मौन पूर्वक तिष्ठता हूँ कदाचित् धर्मका उपदेश भी देता हूँ। मोहसे पृथक् होता निद्रा भी नहीं लेता।

साम्य जल से क्रोधाग्नि को शांति करता, विनयं से मानको भगाता, सरल भाव से कपटको दूर करता, सन्तोषसे लोभका तिरस्कार करता हूँ तथा हास्य नहीं करता, लीला विलास नहीं करता, उद्वेग को छोड़ता, तपाग्निसे मदनके वेग को भस्म केरता हूँ।

भय रहित होता, शोक नहीं करता। किन्तु हिसारंभ के आडम्बर से अति दूर तिष्ठता निज आत्मा के ध्यान में मग्न रहता हूँ।

नर रक्षक ! मैं स्त्री के अवलोकन में अंधा, गीतों के सुनने से बधिर, कुत्सित तीर्थ के गमन करने में पंगु ओर विकथा कथन में मूक हूँ।

कोटरक्षक ! जीवका आधारभूत जो शरीर है वह यद्यपि अचेतन है तथापि वृषभों द्वारा चलाए हुए गाड़ी की भाँति चेतन द्वारा चलाया हुआ चेतन सदृश ही दृष्टिगत होता है।

प्रियवर ! जैसे वृषभों विना शकट (गाडी) नहीं चलती उसी प्रकार पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड जो शरीर है वह चेतन जीवन बिना नहीं चल सकता, इस कारण जीव पृथक् है और शरीर भिन्न है।

ऐसा विचार कर मैं दिगम्बर हुआ सो अन्य किसी की अभिलाषा नहीं करता, किन्तु केवल मोक्ष की इच्छा करता ध्यानारूढ़ तिष्ठता हूँ। मै अरण्यवास करता आर्तरौद्रकुत्सित

ध्यान से विरक्त होकर धर्म–ध्यान और शुक्ल ध्यान के योग से आत्मा का अवलोकन करता हूँ।

यद्यपि मैं शरीर की स्थिरता के अर्थ आहार ग्रहण करता हूँ, परन्तु उरामें गृद्धता नहीं रखता तथा इंद्रियों के बल को दमन करता पापाश्रवों को विसर्जन करता हूँ, इस दशा में जो आनन्द है वह लोकत्रय में नहीं है।

इस प्रकार श्री मुनि–पुंगव के वचन सुनकर कोटपाल कहने लगा–

कोटपाल–मुनिवर्य ! तुमने कहा सो सत्य है परन्तु देह और आत्मा को भिन्न कहते हो यह योग्य नहीं, क्योंकि जैसे गौ के श्रृंगों से दग्ध नहीं झरता और छत्र बिना छाया नहीं होती, उसी प्रकार जीव बिना मोक्ष नहीं होता। तुम सरीखे जो तपाग्नि से आत्मा को संतप्त करते हो सो केवल क्लेश भोगते हो। इस कारण जैसा मै कहूँ वह करो तो अवश्य सुख प्राप्त होगा।

मुने ! जैसे पुष्प से गंध भिन्न नहीं उसी प्रकार आत्मा भी शरीर से पृथक नहीं, किंतु जैसे पुष्प के नाश होने से गंध का विनाश हो जाता है उसी प्रकार देह के नष्ट होने में आत्मा का अभाव हो जाता है इस कारण देह को कष्ट देने में आत्मा कष्ट युक्त होता है।

इस प्रकार कोटपाल के वचन सुन श्रीमुनि कहने लगे–

मुनि०– भो कोटपाल ! आत्मा और शरीर की भिन्नता प्रत्यक्ष सिद्ध है जैसे चम्पा का पुष्प तैल में क्षेपने से उसकी सुगंध पृथक् हो जाती है किन्तु पुष्प बना रहता है इसी प्रकार देह से आत्मा भिन्न हो जाता है।

ऐसा सुन पुनः कोटपाल कहने लगा–

कोटपाल–जब कि तुम देह से आत्मा को भिन्न मानते हो तो देह में आते जाते आत्मा को किसी ने देखा है ? यदि तुमने देखा हो तो तुम ही कहो कि हमने आत्मा को देखा है।

कोटपाल और भी कहने लगा–

यह शरीर शोणित और शुक्र के घर रूप गर्भातर में वृद्धि को प्राप्त होता देखते हैं। (वहां अन्य जीव कहां से आ जाता है) ऐसा सुन संयम और नियम के भण्डार तथा शांतिमान् भट्टारक (आचार्य) कहने लगे–

मुनिराज–भो कोटपाल ! तुमने कहा कि जीव आते–जाते दृष्टिगत नहीं होता सो यह बात सत्य है कि निज अमूर्त्तत्व गुण के सम्बन्ध से यथार्थ में जीव दिखाई नहीं देता, परन्तु दृष्टिगत न होने से क्या वस्तु का अभाव हो जाता है ? कदापि नहीं।

मित्रवर ! जो दूर से आया हुआ शब्द नेत्रों द्वारा क्या देखा जाता है ? किन्तु कर्णो द्वारा ज्ञात हो जाता है इसी प्रकार संसार में अनेक योनियों से आया हुआ आत्मा यद्यपि निज सूक्ष्मत्व गुण से दृष्टिगत नहीं होता परन्तु अभाव नहीं होता किन्तु अनुमान ज्ञान से जाना अवश्य जाता है।

इसका मुख्य कारण यही है कि किसी इन्द्रिय के विषय को दूसरी इन्द्रिय ग्रहण नहीं कर सकती। जैसे नासिका इन्द्रिय का विषय जो गंध है वह नेत्र कर्ण द्वारा ज्ञात नहीं होता।

नेत्र इन्द्रिय का विषय जो वर्ण है उसे स्पर्शन, रसना, घ्राण और कर्ण नहीं जान सकते। रसना इन्द्रिय का विषय जो स्वाद है वह स्पर्श, घ्राण, कर्ण और नेत्रों द्वारा नहीं जाना जाता, और कर्ण इन्द्रिय का विषय जो शब्द है उसका अन्य इन्द्रियों द्वारा बोध नहीं हो सकता।

प्रियवर ! यह तो मूर्तिमान पदार्थ का विधान कहा, अर्थात् मूर्तिक इन्द्रियों का विषय भी मूर्तिक ही होता है और मूर्तिवन्त विषय को मूर्तिक इन्द्रिय ही ग्रहण कर सकती है किन्तु अमूर्तिक को नहीं जान सकती।

कोटरक्षक ! यह जीव नामक पदार्थ अमूर्तिक है, वह अमूर्तिक केवल ज्ञान का विषय है, अर्थात् जीव द्रव्य का केवल ज्ञान द्वारा बोध होता है।

इसी हेतु से श्री केवली भगवान् उस अमूर्तिवन्त जीव द्रव्य को प्रत्यक्ष जानते देखते हैं। इस प्रकार शरीरस्थ होता हुआ भी देह से पृथक् जीव नामक पदार्थ की सिद्धि है।

इस प्रकार श्री मुनि के वचन सुन त्याग विक्रम गुण का धारक कोटपाल कहने लगा–

कोटपाल- मुनिश्रेष्ठ ! यह तो आपका कथन हमने माना परन्तु यह तो कहिये कि इस जीव को अनेक योनियों में कौन प्राप्त कराता है ? और कौन इसे ले जाता है ?

इस प्रकार कोटपाल के प्रश्न करने पर मेघवत् गर्जना करते असंयम के घातक श्री मुनिपुगंव इस प्रकार उत्तर देते भये–

मुनि-इस चैतन्य आत्मा को अनेक योनियों में ले जाने वाला अचेतन कर्म है, वही इस जीव को चार गति और चौरासी लाखयोनियों में नाच नचाता है, उसी कर्म से चतुर्मुखी ब्रह्मा ने रंभा द्वारा तप भ्रष्ट होकर निज मस्तक पर गर्दभ का भुख धारण किया पश्चात् महादेव उसी के घात करने से महाव्रती हुआ।

कोटपाल ! इस लोक में कर्मोदय ही बलवान है। जैसे चुम्बक पाषाण द्वारा आकर्षित हुआ लोह पिंड नृत्य करने लगता है उसी प्रकार जीव के रागद्वेषादि भावों कर पुद्गल परमाणु कर्मस्वरूप होकर जीव को चतुर्गतिरूप संसार में भ्रमण कराते हैं।

संकोच भी और विस्तार भी कर्म प्रकृतियों द्वारा ग्रहण करता आत्मा सूक्ष्म में कुन्थु होकर हाथी होता है इसी से यह जीव जीव शरीर प्रमाण वर्णन किया है।

मित्रवर ! यदि यह जीव ध्रुवलोक प्रमाण सर्वगत निश्चल और क्रियागुण वर्जित सर्वथा माना जायेगा तो उसके भवोत्पाद और भीषण कर्मबंध किस प्रकार होगा।

क्योंकि जो शुद्ध जीव होता है वह ज्ञानावरण, दर्शनावरण मोहनीय और अंतराय ये चार घातिया तथा आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय ये चार

अघाती इस प्रकार आठ कर्मों का बंध किस प्रकार करें तथा गुरूपना शिष्यपना किसके होवे, इससे यह सिद्ध है कि यह जीव निज भावों द्वारा बंधे हुए कर्मों से ही अनेक कार्य करता हुआ पुनः कर्मबंध करता है।

प्रियवर ! यदि शरीर ही को आत्मा मानोगे तो शरीर जड़ होने से आत्मा भी अचेतन मानना पड़ेगा और जब आत्मा अचेतन हुआ तो शय्यासन का स्पर्शन, अनेक रसों का स्वाद, अनेक गन्धों का सूंघना अनेक शब्दों का सुनना और अनेक वर्णों का देखना किसके होगा ?

इस कारण देह को आत्मा मानना सर्वथा विरूद्ध है किन्तु देह स्थित होता हुआ भी आत्मा देह से भिन्न और ज्ञानी है।

चार्वाक मतवालों का जो वृहस्पति नाम का गुरू है वह पृथ्वी अप, तेज, वायु और आकाश इन पदार्थों के ब्रह्मा, हरि, हर, ईश्वर और शिव पंच नाम प्रतिपालन कर पुनः कहता है कि उपर्युक्त पंच पदार्थो के समुदाय से स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द ये पंच गुण विशिष्ट जीव है। इस प्रकार चार्वाक का कहना सर्वथा विरूद्ध है। क्योंकि–

उस जीव के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, और शब्द इन पांच में एक भी वर्णन नहीं किया, किन्तु केवल पांच इन्द्रियों द्वारा स्पर्शादि पंच गुणों को जानता है। इस प्रकार मैंने सुखपूर्वक श्रवण किया हैं।

जीव अनादि निधन है और चैतन्य गुण से युक्त है, अमूर्तिक है इस कारण स्पर्शादि पंचगुण जीव में नहीं किन्तु वही जीव संसार अवस्था में देह धारण कर पंच इन्द्रियों द्वारा उपर्युक्त गुणों का ज्ञाता दृष्टा है।

इसके सिवाय चार्वाक और भी कहता है कि जो नेत्रों द्वारा दृष्टिगत होता है वही प्रत्यक्ष होने पर प्रमाणभूत हैं, और नेत्रों के देखे बिना अन्य पदार्थ का मानना गर्दभ श्रृंगर तुल्य है।

इत्यादि कथन करने वाला सर्वथा एकांतवादी, किन्तु मिथ्या वादी है, क्योंकि किसी पिता तथा पितामह द्वारा रक्खा गृह में द्रव्य जबकि दृष्टिगत नहीं होता तो क्या वह नहीं है ?

जबकि कानों से सुन तो लिया कि अमुक स्थान पर द्रव्य का भण्डार है, परन्तु नेत्रों से नहीं देखा तो क्या वहां द्रव्य नहीं है या वह चार्वाक मतानुयायी उस द्रव्य को ग्रहण नहीं करेगा ?

जो गर्व से महंत विषय कषाय रूप में लंपट जो प्रत्यक्ष वादी है वह परमाणु आदिक सूक्ष्म पदार्थ राम रावणादि अंतरित और मेरु आदिक दूरस्थ एवं वर्तमान होते हुओं को भी नहीं मानता है।

इसके सिवाय नेत्र इन्द्रियों के विषय विना अन्य इन्द्रियों के विषय को भी ग्रहण नहीं करते होंगे । अर्थात् वे पुरूष गीतवादित्रादि सुनते हुए भी बधिर हैं तथा कामिनी के स्तन युगलों के स्पर्शन के आनन्द से भी अनभिज्ञ रहते होंगे और शत्रुओं द्वारा खड्गादिका घात होते हुए भी उस सम्बन्धी पीड़ा से दुःखी न होते होंगे, और ग्राम नगरादिकों का दाह भी देखे बिना न मानते होंगे ।

जो प्रत्यक्षवादी देह रहित आत्मा को न मानते हुए इस अचेतन देहही को आत्मा मानते और श्रद्धान करते हैं वे कच्छवा के रोमों का दुशाला ओढ़े और आकाश के पुष्पों का मुकुट रक्खें बंध्या के पुत्र से वार्त्तालाप करते हैं।

कोटरक्षक ! जो रागी द्वेषी छद्मस्थ ज्ञानी कर्मोदय सहित होते अमूर्तिक आत्मा को मूर्तिक मानते हैं और अदेह परमात्मा को जगत् का कर्ता मानते हैं उनका कथन प्रमाण भूत नहीं किन्तु जो सर्वज्ञ वीतराग और हितोपदेशी है उसी का वचन प्रमाण है।

शरीर रहित (सिद्ध परमेष्ठी) न उत्पन्न होते, न मरते, न करते, न धरते और न कुछ हरते हैं क्योंकि अशरीरी प्रभु भव संसार में भ्रमण नहीं करते हैं।

अशरीरी परमात्मा का स्वरूप उपर्युक्त ज्ञान करना और जो सर्वज्ञ वीतराग हितोपदेशक शरीर सहित भगवान् हैं उसका स्वरूप इस प्रकार जानना और श्रद्धान करना योग्य है।

जो इन्द्र, प्रतीन्द्र, चन्द्र, धरणेन्द्र, नरेन्द्र, चक्रेन्द्र, विद्याधरेन्द्र आदि कर पूजनीक एक हजार आठ लक्षणोंकर सहित केवल ज्ञान नेत्रों के धारक अष्ट प्रातिहार्य से विराजमान धर्मचक्र कर शोभित ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन घातिचतुष्कसे विमुक्त किन्तु अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य इन अनन्त चतुष्टय के धारक श्री अरहंत केवली के मुख से आत्मा का स्वरूप श्रवण किया है।

वह आत्मा द्रव्यार्थिक नय द्वारा नित्य और पर्यायार्थिक नयकर अनित्य है और जो एकांतवादी आत्मा को सर्वथा नित्य ही मानते है। उनके शासन में आत्मा जन्म मरण आदि समस्त कार्यों से रहित आकाशवत् निर्लेप और अक्रिय ही कहा जायेगा।

जब आत्मा अक्रिय हुआ तो नित्य कूटस्थ हो जायेगा। जिससे उसमें असंख्य दोषों का उत्पाद होगा। इस कारण आत्मा कंथचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है।

श्री आप्त भगवान् ने आत्मा को अनेक रूप वर्णन किया है। और जो अद्वैतवादी भट्ट जीव को एक ही कहता है अर्थात् भट्ट कहता है कि जैसे अनेक जलपूरित घटों में एक ही चन्द्रमा का बिंब प्रतिबिंबित होकर अनेक रूप दीखता है उसी प्रकार जीव एक होने पर भी अनेक रूप दृष्टिगत होता है।

इस प्रकार भट्ट का कहना सर्वथा विरूद्व है, क्योंकि यदि जीव एक ही होता तो कोई जीव हास्य करता, कोई अनेक रूदन करते हैं इसी प्रकार एक रोता है तो अनेक हंसते हैं। एक शयन करता है, अनेक जाग्रत हो रहे हैं।, अनेक दया पालन करते हैं। अनेक हिंसा कर्म में प्रवृत्तमान होते हैं, अनेक शंका उत्पन्न करते शिष्य बनते हैं।

एक गुरू सबका समाधान करता है, एक राज्य करता है। अनेक दासकर्म करते हैं। इत्यादि कोई किसी क्रियामें मग्न है कोई किसी कर्ममें संलग्न हो रहा है। यदि चन्द्रबिंब सदृश भी मानोगे तो अनेक घटोंमें प्राप्त होता हुआ भी एक ही प्रकार का दिखता है। घटस्थ बिंब में और चन्द्रबिंबमें कुछ अन्तर नहीं।

उसी प्रकार समस्त जीव एक ही प्रकार के दृष्टिगत होते सो हैं नहीं, किन्तु एक दूसरे के प्रतिकूल कर्म करते दृष्टिगत होते हैं इस हेतु यही सिद्ध होता है कि जीव एक नहीं किंतु अनेक हैं।

और बौद्ध मतानुयायी जगतको क्षणिक मानता है। वह कहता है कि समस्त जगत क्षणमें उत्पन्न होता है अर्थात् जो प्रथम समय है वह द्वितीय समयमें नहीं रहता इस कारण जगतका होना न होना समान ही है तिस क्षणिकवादी बौद्ध प्रति कहते हैं–

बौद्धके कथनानुसार यदि जगत नहीं है तो वह पात्र से पतित मांस रसका रसिक बौद्ध तपश्चरण करता क्यों तिष्ठता है ? जो आत्माको विज्ञानस्कंध मानता है सो वह बुद्ध भट्टारक हठग्राही है।

यदि तीनों लोक भ्रांति रूप क्षणिक ही होते तो एक दूसरे की कृति के ज्ञाता किस प्रकार होते ?

यदि चैतन्य आत्मा क्षणध्वंसी होता तो छः मासकी वेदना का ज्ञाता किस प्रकार होता ?

बौद्ध पुनः कहै कि जो छः मास की वेदना को जानता है सो पूर्व वासना के अनुसार जानता है।

उनके प्रति कहते हैं कि जब समस्त जगत् क्षणिक है तो क्या वासना में क्षणकत्व न होगा ? इसके सिवाय विज्ञान वेदना संज्ञा संस्कार और रूप पंच स्कंधों से भिन्न है।

इत्यादि हेतुओं से सिद्ध हुआ कि आत्मा सर्वथा क्षणिक नहीं है किन्तु कथंचित् क्षणिक और कथंचित् ध्रुव है।

इस प्रकार श्री मुनि पुंगव के वचन सुनकर कोटपाल निज मस्तक पर हस्तकमल धारण कर श्री मुनि की स्तुति करता हुआ मुनि कथित वाक्योंको प्रमाणभूत ज्ञात करता स्वीकार करता भया।

तदनंतर कोटपाल कहने लगा–

कोटपाल - हे मदनभंजक, हे भारक, हे जगतारक ! आप मुनिमार्गका प्रतिपादन कीजिये। मैं यथाशक्ति उसका प्रतिपालन करूंगा।

मुनिराज - कोटरक्षक ! तू श्री सर्वज्ञ वीतराग और हितोपदेशक श्री जिनराज कथित धर्म का सेवन कर क्योंकि इसी धर्म से स्वर्ग मोक्ष की प्राप्ति होती है। धर्म से मनुष्य हो जाय तो नारायण, बलभद्र विद्याधरेश, चक्रवर्ति होता है। इस् धर्म से धरणेंद्र, इन्द्र और अहमिंद्र पद प्राप्त होता है।

प्रियवर ! इसी धर्म के धारण करने से जिनके चरण कमलों के दास इन्द्रादिक देव जिनका जन्माभिषेक क्षीरसागरके जलसे करते हैं ऐसा जिनेन्द्र पद प्राप्त होता है।

इसी धर्मके फलसे मनुष्य पर्याय धारण कर उत्तम धनवान् गृहस्थ होता है। वहाँ चन्द्रवदनी, कर कमली, हंस गामिनी, कमल दल नेत्र, सुगन्धमय श्वासोच्छवास सहित मनोहर, लापा अनेक कौतुकोत्पादिका, पीतोन्नतकुचा और उत्तम वस्त्राभूषणों कर विभूषिता इत्यादि रूपकर देवांगना तुल्य स्त्रीरत्नकी प्राप्ति होकर सांसारिक सुखों का अनुभव प्राप्त करता है।

रत्नोंकी किरणों के समूह से व्याप्त, जालीकर उपलक्षित गवाक्षोंकर मनोहर, सुविचित्र भीतियों कर शोभमान और पाँच सात खन के महल इस धर्म से प्राप्त होते है।

भव्यवर ! इस धर्मके फलसे मदोन्मत्त गजराज, पवन तुल्य वेग युक्त घोंटक, रथ पालकी आदि अनेक आसन, ध्वजा, उज्ज्वल छत्र चमर, सिंहासन आदि राज्य चिह्न, महाबलधारी अनेक सुभट और महासेना का स्वामी होकर आनन्दपूर्वक काल व्यतीत करता है।

प्रियवर ! इस संसार में धर्म समान मित्र अन्य नहीं किंतु इससे विपरीत पाप समान दुःखदायक शत्रु दुसरा नहीं है।

जो परजीव की हिंसा करता है अर्थात् अन्य जीवके प्राणों को पीड़ित करता है वह पापी गिना जाता है। और उसी पाप के फलसे यह जीव संसार चतुर्गति में भ्रमण करता अनेक कुयोनियों में असंख्य दुःखों का पात्र बनता है।

कोटरक्षक ! जो हिंसक है वह संसार वनमें भटकता किसी पुण्य योग से मनुष्य पर्याय धारण करे तो दुःखी दरिद्री, दीन, मलिनगात्र, दुर्बल रूक्ष हस्तपादादि, दुर्गन्धियुक्त वक्र बदन, महा घृणित लोकों के उच्छिष्टसे जीविका करनेवाला और मलिन और फटे वस्त्रों से आयु पर्यन्त दुःख भोगता काल व्यतीत करता है।

जिस महा हिंसादि पाप कर्म से, यदि मनुष्य पर्याय में स्त्री पावे तो मलिनगात्र, जार पुरूषों से रमण करने वाली पर पुरूषासक्ता, व्यभिचारिणी, पर धन हरण करने में प्रवीण, पीत नेत्र रूक्ष केशा, शुष्क कपोला, भग्नस्तनी, मोटे और धूसरे फटे ओष्ठ, दुर्भागणी, दुष्टिणी, कुलमार्ग से भ्रष्ट, कठोर ,धींठ, निर्लज्ज, पाप कर्ममें लीन, स्नेह रहित, दुर्गध शरीर, प्रलय काल सदृश कलहिनी, शोभा रहित, दारिद्रय पीड़ित कठोर व कर्कश भाषिणी होती है।

पापकर्म से यदि गृहस्थ भी हो तो उपरोक्त गुण विशिष्टा स्त्री, महामूर्ख अनेक पुत्र तिसपर आप दरिद्री, यदि कदाचित् किसीकी मजदूरी से जो कुछ द्रव्य लावे उससे अनाजकी योग्यता न होने पर खलके खण्ड और तुषके पिंडोंसे समस्त कुटुम्ब भूख शांति करें।

इधर उधर बालक रोते हैं, उनकी नाक बहती है, कहीं घरमें फूटे पात्र पड़ें हुए हैं। कहीं दूसरों से माँगकर लाये मलिन और फटे वस्त्र लटक रहे हैं।, जिनका कोई सहायक परिवार नहीं, जिनका घर भी कैसा उत्तम कि तृणों से आच्छादित होने पर भी सहस्त्रों छिद्र हैं।

बहुत कहाँ तक कहा जावे, इस संसारमें यावत् मात्र दुःख है, वह समस्त पापरूप वृक्षके फल हैं और वह पाप भी पर पीड़ा से ही है।

कोटपाल ! इस प्रकार जानकर जैसे हो तैसे जिसमें जीव का व धन सम्भव हो ऐसे धर्म को करो, ऐसा हास्यपूर्वक श्री मुनिराज के वचन सुनकर कोटपाल श्री मुनि से कहने लगा–

कोटपाल- श्री मुनि ! देव, गुरू, भूत, नामक ब्राह्मण इस प्रकार कथन करता है कि जो पुरूष पशुओं का घातकर मांस भक्षण करता हैं वह निश्चय स्वर्ग में असंख्य काल पर्यत सुख भोग करता है, इस प्रकार कोटपालका कहा हुआ श्रवण कर पुनः श्री मुनिने कहा–

मुनि–महाशयवर ! जो निश्चित शुद्ध ज्ञान है वह इन्द्रियवर्जित अतींद्रिय है तथा वही ज्ञान जीवका निज स्वभाव मय है, किन्तु पराधीन नहीं, वह साधनक्रम से स्खलित रहित है सो अतींद्रिय ज्ञानके धारक श्री केवली भगवान् ने जो प्रतिपादन किया है वह सर्वथा सत्य है, अन्यथापनका लेश भी नहीं ।

क्योंकि वस्तु स्वभाव के यथार्थ कथनमें प्रथम तो सर्वज्ञ होना चाहिये और सर्वज्ञ भी हुआ, यदि रागद्वेष कर मलिन हुआ तो भी वह यथावत् नहीं कह सकता, इस कारण सर्वज्ञ और वीतराग ही हितोपदेशक गुण सहित है, वही आप्त है, उसीका कहा हुआ वचन प्रमाणभूत है।

मित्रवर ! आप्त भगवान् ने चैतन्यगुण विशिष्ट अमूर्तिक जीव का जैसा स्वरूप प्रतिपादन किया है उसे इन्द्रियजनित ज्ञानका धारक स्वप्नमें भी नहीं जान सकता। क्योंकि जो इन्द्रिय जनित ज्ञान है वह मूर्तिक है। वह मूर्तिक ज्ञान अमूर्तिक वस्तुका ज्ञाता किस प्रकार हो सकता है ?

कोटरक्षक ! तुम्हारा जो देव है वह इन्द्रियजनित ज्ञान का धारक है सो वह इन्द्रियजनित ज्ञान से वस्तु स्वभाव को जन्मांतर में देख जान नहीं सकता ।

जैसे मदोन्मत्त मूर्छावान् और शयनस्थ पुरूष के मुखमें श्वान मूत्रक्षेपण कर जाता है और उसेनहीं जान सकते इसी प्रकार अतींद्रिय ज्ञानवर्जित छद्मस्थ ज्ञाता त्रैकालिक वस्तु को कदापि नहीं जान सकता।

व्यासजी ने यद्यपि महाभारत नामक ग्रन्थका प्रकाशन किया परन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान वर्जित होने से यतिंकचित् कथन किया है। वह मिथ्या है। क्योंकि छदमस्थ को वस्तु का यथावत् ज्ञान नहीं होता। इस कारण लोकके अग्रभागमें पृथ्वीतलका स्थापन तथा सूर्य चन्द्रादि ग्रहों की गति में गणित पर भाषण त्रिलोकगत कालत्रयकी कथा और गगनांगण में सूर्य चन्द्रमा के ग्रहण आदि का निरूपण नहीं हो सकता। इसके सिवाय जो मूढ़बुद्धि सर्वज्ञ को अतीद्रिंय और अनिंदित ज्ञानमय प्रतीत नहीं करता वह निंदित पंचेन्द्रियों में रत होता हुआ नरकों में वैतरणी के जल को पान करता है।

भ्रातृवर ! वेदपाठी जन वेद की उत्पत्ति इस प्रकार कहते है कि अशरीरी परमात्मा की इच्छानुसार चारों वेद स्वयमेव उत्पन्न हुए हैं।

इस प्रकार कहने वालों को किंचित् भी लज्जा प्राप्त नहीं होती। क्योंकि जबकि वेद स्वयंसिद्ध हैं तो आकाश में शब्दों की पंक्ति एकत्रित होकर आप ही पुस्तक में किस प्रकार लिखी गई यह कथन सर्वथा विरूद्ध ही नहीं किन्तु असंभव ज्ञात होता है।

मित्रवर ! दो पुद्गल के संगठन से उत्पन्न हुआ शब्द आकाश में गमन कर लोकों के कर्णाश्रित है वह शब्द दो प्रकार है अर्थात् एक अक्षरात्मक और दूसरा अनक्षरात्मक है।

उनमें पशु और बंशीदि द्वारा उत्पन्न हुआ शब्द अनक्षरात्मक है और अष्टस्थानों के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ मनुष्यों का शब्द अक्षरात्मक बुद्धिमानों ने भाषारूप परिगणित किया है।

कोटरक्षक ! जो मूढ़बुद्धि वेद को स्वयं सिद्ध करते हैं वे ही देव को शरीर रहित तथा पांडवों को देव पुत्र कहते हैं । अर्थात् धर्म का

पुत्र युधिष्ठिर, इन्द्र का पुत्र अर्जुन, पवन का पुत्र भीम, अश्विनी कुमार का पुत्र नकुल और सहदेव को वरूण का पुत्र प्रतिपादन करते हैं।

जो नित्य निरंश और अखण्ड है उसमें अंश कल्पना किस प्रकार हो सकती है ? जो पुरूष जबकि उपरोक्त कथन करते लज्जास्पद नहीं होते, अकीर्तिसे भयभीत नहीं होते वे ही कंस नामक शत्रु की हिंसा से वासुदेवको स्वर्ग सुख का भोक्ता बतलाते हैं।

इससे यह ज्ञात होता हैं कि वेद भिन्न हैं, पुराण अन्य हैं, देव अन्य, पूज्य अन्य, और इस कथन का करने वाला अन्य है।

मित्रवर ! इस प्रकार कुमारिल भट्ट के कथन से पूर्णता हो, क्योंकि उपरोक्त समस्त कथन असत्य होने से धर्म के विपरीत है किन्तु अधर्म का पोषक और सर्वथा असम्भव है।

वेद द्वारा किया हुआ कथन मैंने जाना, उसमें हिरणों का मरण प्रकाशित किया। एक वेद ने निश्चय कर भील कुल का पोषण किया और दूसरे ने द्विजकुल (ब्राह्मणों) का पालन किया।

यदि मीन भक्षी और स्नान से पवित्र होते ब्राह्मण और बगुला ही पूज्य पद को प्राप्त हो जायेंगे तो षट्कायके प्राणियों के रक्षक, संयम के प्रतिपालक और समभाव से युक्त मुनियों की क्या दशा होगी ? अर्थात् उनकी पूजा वन्दना कौन करेगा ?

कोटरक्षक ! तुम ही निज हृदय में विचार कर देखो कि सरिता तटपर निवास कर मच्छियों के समूह को भक्षण करता बगुला किस प्रकार पवित्र हो सकता हैं ? इसी प्रकार जो ब्राह्मण जिह्वालंपट मांसभक्षी है वे पूज्य किस प्रकार हो सकते हैं।

पाप कर्मके उदय से मेढ़ी, बकरी, हरिणी, और गाय आदि पशु जाति समस्त तृण भोजी हैं, किन्तु वे किसी जीव के घातमें प्रवृत्तमान् नहीं होते, उन दीन पशुओं का घात कर आपकों उच्चकुली और पवित्र मानकर भोले जीवों से अपनी पूजा करावें और कहें कि –

हमको परमेश्वर ने इस विप्रकुल में इसीलिये उत्पन्न किया है कि हम चाहे जैसा नीच कर्म करें तो भी पूज्य ही हैं और जो हमारी निन्दा करता है वह जब तक सूर्य चन्द्रमा का उदय है तब तक वह नरक वास करता है।

तथा जो हमारे बचनों में दूषण लगाता है वह वैतरणी के जल का पान करता है इससे हमारा कहा हुआ जो वाक्य है वह जनार्दन भगवान् तुल्य है।

कोटरक्षक ! अब आपही कहिये कि इन विप्रों का कहा हुआ वाक्य कहां तक सत्य माना जाय ? क्योंकि प्रथम तो आप कहते हैं कि गौ देवता है और उसकी पूंछ में तेतीस कोटि देवता वास करते हैं।

इस कारण गौकी विष्टा और मूत्र दोनों ही पवित्र हैं फिर आप ही उपदेश करते हैं कि गोमेध्य यज्ञ में गौ के हवन करने से मनुष्य स्वर्गलोक को जाता है।

इसके सिवाय और भी कहते हैं कि जो पुरूष सौदामिनी यज्ञ में मदिरा का पान करता है वह संसार से पार हो जाता है। इत्यादि कहां तक कहा जावे, विप्रों का कथन सर्वथा असत्य और विरूद्धता युक्त है।

भव्यवर ! अब तुम वेदमार्ग को त्यागकर श्री ऋषभदेव आदि तीर्थनाथ कर प्रकाशित धर्म को अंगीकार करो।

श्री ऋषभदेव स्वामी ने दयामय धर्म का प्ररूपण कर पुनः वही दयामयी धर्म मुनि और गृहस्थ के भेद से दो प्रकार का प्रतिपादन किया।

उनमें पंच महाव्रत, पंचसमिति और तीन गुप्ति इस तरह त्रयोदश प्रकार चारित्रयुक्त मुनि धर्म, महा दुर्द्धर है और पंच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस तरह द्वादश व्रत रूप श्रावक धर्म है उसी का पालन तुम करो।

क्योंकि इस श्रावक धर्म में एकदेश हिंसा का त्याग है सो तुम हिंसा, झूंठ चौर्य कर्म, कुशील सेवन और परिग्रह की तृष्णा एवं पापों

का एकदेश त्याग कर अहिंसा (दया), सत्य अचौर्यव्रत स्वदार सन्तोष और परिग्रह का प्रमाण एवं पंच अणुव्रतों को धारण करो।

पुरूषोत्तम ! उपरोक्त व्रतों के सिवाय रात्रि भोजन का त्याग मधु, मांस मदिरा तीन मकार तथा ऊमर, कठूमर, पीपल बड़ और पाकर फल एवं पंच उदंबर फलोंका बर्जन दशों दिशाओं का प्रमाण और भोगोपभोगकी संख्या करके आठ मदों का त्याग कर देना चाहिये।

इसके सिवाय अन्य कुशास्त्रों के श्रवण का वर्जन, वर्षा कालमें गमन का निषेध, जीव घातक आजीविका का त्याग करके अपने शस्त्र किसी को नहीं देना चाहिये।

अष्टमी और चतुर्दशीके दिवस स्त्री के दुर्घट स्तनों का स्पर्श न करना किंतु उपवास पूर्वक एंकात स्थान में वास करना अथवा एक भुक्त और नीरस आहार करना चाहिये।

हे कोटरक्षक ! प्रत्येक पर्व के दिवस में उपवास अथवा कांजी का आहार करना तथा धर्म ध्यान पूर्वक श्री जिनमन्दिर में तिष्ठ कर पाप का अंत करना।

इसके सिवाय पात्र दान देना अर्थात् शम, दम, व्रत, नियम आदि का पालने वाला संयमी मुनि उत्तम पात्र, सम्यग्दृष्टि श्रावक मध्यम पात्र, और अव्रत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र, इन तीन प्रकार के पात्र के अर्थ औषध, शास्त्र, अभय और आहार एवं चार प्रकार का दान सत्कार पूर्वक देना।

इस प्रकार दान करने से पुण्य की संतान उत्तरोत्तर वृद्धिंगत होगी। तदन्तर पंच कल्याणक प्रतिष्ठादि कर्मों में द्रव्य का व्यय करना ओर सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र रूप रत्नत्रयका निरन्तर आराधन करना, व त्रिकाल सामायिक करना।

उस समय जिन वन्दना के पश्चात् राग द्वेष का वर्जन कर साम्य भाव का अवलम्बन करना उपरोक्त सामायिक कर्म, निज गृह के एकान्त स्थान में अथवा जिन मन्दिर में एकान्त स्थान प्रति या जिन

प्रतिमा के अग्रभाग में कायोत्सर्ग तिष्ठ कर करना योग्य है। कुगुरू कुदेव और कुधर्मसे पराङ्मुख होकर अन्त समय सल्लेखना मरण करना।

मुनिराज के कथित वचन श्रवण कर श्रेष्ठ भट्ट (कोटपाल) कहने लगा–हे मुनिश्रेष्ठ ! हमारे कुल में जीवों का मारना प्रथम है सो इस जीव घात बिना अन्य जो धर्म सम्बन्धी क्रम वर्णन किया वह मैंने ग्रहण किया।

इस प्रकार कहकर कोटपाल और भी कहने लगा–

कोटपाल- हे मुनिपुँगव ! मैं नगर का श्रेष्ठ कोटपाल हूँ सो जीवों का वध करना, मारना और कारागृह में बन्द करना यह मेरा प्रथम ही कर्तव्य कर्म है इस कारण इस व्रत का व्रती मैं नहीं हो सकता ।

हे आचार्यवर्य ! हमारे पितामह, प्रपितामह और पिता के समय से जीव वध के क्रम का संचार हो रहा है सो क्रम से मैं बद्ध हूँ । इस कारण इस व्रत को ग्रहण नहीं कर सकता। किन्तु अन्य समस्त धर्म का ग्रहण करता हूँ।

इस प्रकार कोटपाल का कहा वाक्य सुन श्री मुनि ने कहा–

श्री मुनि-हे कोटपाल ! बहुत कहने कर क्या ? यह देख तेरे निकट जो कुर्कुट युगल तिष्ठा हुआ है इसने जिस प्रकार संसार भ्रमण कर महान् कष्टों को सहन किया है उसी प्रकार तू भी करेगा।

कोटपाल- भो दिगम्बरेश ! इस कुर्कुट युगल के भव–भ्रमण की कहानी आप वर्णन करें जिसके श्रवण से मुझे सम्बोधन हो।

इस प्रकार कोटपाल की प्रार्थना करने पर श्री मुनि कुर्कुट युगल के संसार–भ्रमण का कथन करने लगे।

महाराज यशोधर और उनकी माता चन्द्रमती ने अत्यन्त कुसंगति के योग से कर्कश भाव उत्पन्न किये जिससे कृत्रिम कुर्कुट मारकर कुलदेवी के अर्थ बलिदान किया।

हे कोटपाल ! मिथ्यात्व के योग से वे दोनों ही निज धन और शरीर का विनाश कर महाभयभीत होते क्षुधातुर मयूर और श्वान हुए ! पुनः मरकर मत्स और शंशुमार (सूंस) हुए। वहां से प्राण त्याग बकरा बकरी हुए, तदनन्तर बकरा और महिष हुए। वहां प्राण त्याग नवीन पुच्छ के सहारा सहित कुर्कुटयुगल हुआ जो तेरे निकट तिष्ठा हुआ है।

इस प्रकार श्री मुनिद्वारा कुर्कुट युगल के भव–भ्रमण का संक्षेप सुनकर कोटपाल ने समस्त कुल धर्म का त्याग कर श्रावक व्रत को ग्रहण किया। पश्चात् मन, वचन, काय से श्री मुनि को भाव सहित नमस्कार किया।

श्री क्षुल्लक महाराज मारिदत्त नृप से कहने लगे–राजन् ! जिस समय श्री मुनि ने हम दोनों कुर्कुटों के भव भ्रमण की कहानी वर्णन की उसे श्रवणकर हर्षपूर्वक जीवदया का प्रतिपालन कर अपूर्व लाभ के योग से अत्यन्त सन्तोष को प्राप्त हुए ।

पश्चात् उत्कंठापूर्वक जैसे ही मधुर शब्द का उच्चारण किया तत्काल उसे श्रवण कर मैथुन कर्म में उपस्थित मेरे पुत्र यशोमति ने धनुष में बाण लगाकर निज पत्नी कुसुमावली से कहा –प्रिय ! इस समय तुझे शब्दवेधी धनुर्वेद दिखाता हूँ ।

इस प्रकार कह राजा ने बाण छोड़ दिया जिससे पिंजरे में स्थित हम दोंनो कुर्कटों का शरीर छिन्न होने से हम दोंनों ही इस प्रकार प्राणों से मुक्त हुए अर्थात् मर गये ।

राजन् ! हम दोनों ही मुर्गे उस तीक्ष्ण बाण द्वारा मरण प्राप्त होकर जन्मांतर के पुत्र यशोमति की कुसुमावली के रूधिर और लटों कर व्याप्त गर्भाशय में उत्पन्न हुए।

नृपवर ! पापों की परम्परा से मैं निज पुत्र का पुत्र और मेरी माता चन्द्रामती निज पोता की पुत्री हुई, इस प्रकार नव मास व्यतीत हुए। पश्चात् मेरा जीव तो अभयरूचि कुमार नाम का पुत्र और मेरी माता का जीव अभयमती नाम की पुत्री हुई।

पृथ्वीनाथ ! अब हम दोंनों भाई–बहिन काम की शक्ति समान रूप लावण्य युक्त होते चन्द्रकला सदृश वृद्धिंगत होने लगे। हम दोंनो ही कलागुणकर प्रवीण निज सौजन्यता और विनयगुण से समस्त कुटुम्बीजनों का मन हर्षित करते आनन्दपूर्वक काल व्यतीत करने लगे

कालांतर में हमारे पिता ने युवराज पद का पट्ट हमारे मस्तक पर आरोहण कर आप मृगया (शिकार) अर्थ पाँच सौ कुत्तों और अनेक शस्त्रधारी सुभटों को साथ लेकर महावन की ओर गमन किया ।

सो मार्ग में रमणीक उपवन में उग्रोग्र तप की ताप से क्षीण शरीर और कामदेव के विदारक एक तरू के तले प्रासुक शिला पर सुदत्त नाम भट्टारक उस समय देखे।

यह राजा यशोमति चिंतवन करने लगा कि सिद्धि का विनाशक अपशकुन साधु कहां से आया ? ब्रह्म यह मुझ द्वारा बिना मारे कहां जायेगा ?

ऐसा विचार कर उस जन्मान्तर के पुत्र और वर्तमान के पिता यशोमति ने मुनि के मारने को बिजली के पुंज और पवनवेग तुल्य तीक्ष्ण नखों युक्त पाँचसों कुत्ते छोड़े।

वे श्वान श्वानपालकों ने छोड़े ऐसे ज्ञात होते थे मानों मृगादि जीवों के मारने के शस्त्र ही हैं। उन श्वानों की वक्रपुच्छ पापिष्ठों के चित्त समान, जिव्हा हिंसारूप वृक्ष के पल्लव तुल्य और नख हिंसा रूप तरू के अंकुर सदृश दृष्टिगत होते थे।

उस पाप पुंजवत् श्वान समूह के छोड़ने में शिकारीजन किंचित् भी दया नहीं करते।

वे हिरणों के विदारक भूँकते, उछलते कुत्ते श्री मुनिराज के तप की सामर्थ्य से मुनि के पास जाकर उनके चरणों को नमस्कार कर विनयपूर्वक चरणों के निकट बैठ गये।

जब कुत्तों का छोड़ना निरर्थक हुआ तब राजा यशोमति स्वयं खड्ग लेकर श्री मुनि के मारने को उद्यत हुआ। उस समय कल्याण

मित्र नाम का राजश्रेष्ठी जोकि मुनिराज के निकट तिष्ठा हुआ था राजा यशोमति और श्री मुनिराज के मध्य होकर कहने लगा–

हाथ जोड़कर सेठ ने राजा से कहा– राजा मनुष्यों की पीड़ा का हरने वाला होता है सो यदि राजा ही व्रतयुक्त यतिवर को मारेगा तो विंध्याचल पर्वत पर वास करने वाले भीलों की क्या दशा होगी ?

अर्थात् विंध्याचल पर्वत के निवासी भिल्लजन मुनि हत्या में प्रवर्तते हैं किन्तु राजा तो मुनिजनों की रक्षा ही करता है और यदि राजा ही मुनि हत्या करेगा तो भिल्लजन क्या करेंगें ?

इस कारण हे प्रजापालक ! मुनिराज की हत्या से निवृत होकर पवन, वरण वैश्रवण कर स्तुति करने योग्य और विषयों से विरक्त श्री मुनिराज को नमस्कार करना ही योग्य है।

ऐसा सुन क्रोधयुक्त होकर राजा यशोमति ने कहा–

यशोमति - कल्याणमित्र ! जोकि नग्न है, स्नान रहित है, वह अमंगल और कार्य का विनाशक है, उसे बिना मारे कैसे छोड़ूँ ? किन्तु मुझे यमराज की आज्ञा का पालन करना ही अभीष्ट है और तुम कहते हो कि नमस्कार करो, सो मैं प्रणाम कैसे करूँ ? क्यों कि जो इतने योग्य है उसका विनय करना वेद मार्गियों द्वारा नीति विरूद्ध है इस कारण इसे अवश्य मारूंगा ।

कल्याणमित्र- (हताश–हृदय होकर) श्रीमान् यदि नग्न ही अमंगल है तो नग्न और धूलि से धूसरित शरीर महादेव तथा कतरनी हाथ में लिये नग्न मूर्ति क्षेत्रपाल भी हैं।

इसके सिवाय अरुण चरणों में घूंघुरा धारण किए लोह का कड़ा हाथ में पहिने गर्दभ पर सवार मुँडों की माला धारण किये अस्थियों के आभूषण पहिने मनुष्यों के माँस का भक्षण करने वाली, हाथ में कपाल और श्मशान में वास करने वाली नग्न शरीर योगिनी किस प्रकार मंगल स्वरूप हो सकती है क्यों कि जो जीवदया का बाधक और हिंसा का स्थान हो वह मंगल नहीं होता।

नृपवर ! जो जीव दया का प्रतिपालक, संयम का धारक साधु, भट्टारक नग्न दिगम्बर है वह अमंगल नहीं, किन्तु सच्चा मंगल वही है क्योंकि जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चरित्र रूप आभूषणों के धारक और लग्न, भावनायुक्त है उनको दूषण लगाना पाप का उपार्जन करना है।

पृथ्वीपति ! आपने स्नान रहित मुनि को निंदारूप वचन कहा सो यज्ञ कर्म में स्नान कहां ? जैसे क्षार द्रव्य से वस्त्र मलरहित हो जाता है उस प्रकार मलभूत घट सदृश यह शरीर स्नान करने से शुद्ध नहीं होता।

क्योंकि स्नान करने से सुगंधादि लेपन और पुष्पमालादि ध ारण करने से देह पवित्र और निर्मल नहीं होता किन्तु शरीर के संयोग से सुगंधादि विलेपन अपवित्र हो जाता है।

यह शरीर क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह आदि से पूर्ण है सो यद्यपि सप्तधातु उपधातुमय अपवित्र है, तथापि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप से पवित्र हो जाता है।

हे राजन् ! दुर्द्धर तप के धारक ऋषीश्वरों का सर्वांग पवित्र है क्योंकि उनकी लार का रस और शरीर का मल भी रोगातुरों के रोग को नाश करता है।

नृपश्रेष्ठ ! जिन ऋषीश्वरों के चरणों की रज ही पापरूप पंकका नाश करती है इस कारण उन ऋषीश्वरों को ईर्षारहित प्रणाम करना ही सर्वथा योग्य है।

क्योंकि उन मुनिश्वरों की आमर्षोषधि श्रेष्ठखिल्लौषधि विडौ षाधि अक्षीणमानसर्द्धि और सर्वोषर्द्धि के प्रभाव से श्री मुनि के अंग को सर्प नहीं ड़सते तथा सिंह शार्दूल भिल्ल पुलिंद आदि दुष्ट जीव भी विनयपूर्वक प्रणाम करते हैं।

वे मुनिपुंगव यदि रोषयुक्त होवे तो इन्द्र का भी स्वर्ग से पतन करें और मेरू सहित तीन लोक को उलट देवें। तीन लोक में ऐसा

कौन सा बलवान तेजस्वी जीव है जो ऋद्धियुक्त श्रीमुनि के सन्मुख तिष्ठ सके।

प्रजारक्षक ! वे महाशक्ति के धारक श्री मुनि प्रणाम करने वाले सज्जन से प्रसन्न नहीं होते और जो निंदा करता है उसके प्रति रोष नहीं करते । किन्तु शत्रु मित्र दोनों में समभाव रखते हैं वे महामुनि शत्रु, मित्र, तृण, कांचन, गृह श्मशान और धूलि तथा रत्न में समभाव है, बडे खेद की बात है कि ऐसे शांतचित्त तपोनिधि महामुनि के ऊपर खड्ग उठाना कहां तक योग्य है ?

वे महामुनिवर समस्त परिग्रह रहित समस्त जीवों के उपकारी हैं जिनका प्रभाव श्रावकों के सिवाय देवेन्द्रों पर भी पड़ता है नृपेश ! आप भी प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि महाक्रूर स्वभावी, हिंसक पांच सौ श्वान आपने श्रीमुनि के मारणार्थ छोड़े परन्तु श्री मुनिराज के प्रभाव से वे शांतचित्त होकर विनयवान् शिष्य की भांति मुनिराज के पादमूल में पूंछ हिलाते हुए तिष्ठे हैं।

राजन् ! अज्ञान अवस्था और क्रोध से विमुक्त होकर श्री साधु के चरणों की वन्दना करो। इत्यादि कहकर कल्याण मित्र सेठ ने और भी श्रीमुनि का परिचय दिया ।

गुणों के समूह की निधि कलिंग देश का राजा नामकर सुदत्त कुसुमाल चोर के बन्धन और वध से उदास होकर परम यति हुए हैं।

जिस समय कुसुमाल चोर को बन्धन में डालकर कोटपालने राजा सुदत्त के सन्मुख उपस्थित किया, उस समय राजकर्मचारीगण श्रेष्ठ ब्राह्मणों ने नृपति से विज्ञप्ति की कि स्वामिन् ! इस अपराधी चोर को हस्त पाद और मस्तक छेदने का दण्ड दिया जाए ऐसा सुन राजा को संसार देह भोग से वैराग्य उत्पन्न हुआ ।

ये सुदत्तचार्य महाराज, जीवन और धन की आशारूप पाप को छेद तथा जीर्ण तृणवत् राज्य को छोड़ परम दिगम्बर होकर गिरि और वन के वासी हुए हैं, ऐसा कहकर कल्याणमित्र सेठ ने कहा–अहो

राजन् ! यशोमते ! अब रोष मुक्त होकर हाथ जोड़ श्रीमुनि महाराज के चरण कमलों को प्रणाम करो।

इस प्रकार कल्याणमित्र के कल्याण रूप अमृततुल्य वचन श्रवण कर समस्त जीवों में मैत्री भाव धारण कर श्री मुनिराज की महाभक्ति पूर्वक महाराज यशोमति ने हाथ जोड़ कर नमस्कार किया।

तब श्री आचार्यवर्य ने धर्मवृद्धि हो, ऐसा वात्सल्यपूर्वक अमृत तुल्य वचन कहा।

उसे श्रवणकर यशोमति नृप हृदय में चिन्तवन करने लगे कि ये मुनि महाराज सुमेरू समान अचल, पृथ्वी समान क्षमावान, समुद्र समान गम्भीर, दिनकर समान प्रतापी व चन्द्रमा समान सौम्य है।

ये श्री मुनिपुंगव संयम के पुञ्ज, तपकी शक्ति माहात्म्य के सार, जिनवर की भक्ति के निवास, दयादेवी की क्रीड़ा के पर्वत, क्षमारूप कमलिनी के सरोवर और साधुवृत्ति के भण्डार, जीवों की प्रतिपालना करते तिष्ठे हुए हैं। मुझ पापी कृतघ्नी दुष्टात्मा ने ऐसे महात्मा के मारने का संकल्प किया तो अत्यन्त अयोग्य कार्य किया।

राजा यशोमति विचारने लगे कि इस दुष्ट चेष्टा का प्रायश्चित अपना मस्तक छेदकर करता हूँ . इस प्रकार नृपति के हृदयस्थ आशय को जानकर श्री मुनिमहाराज ने श्रवणों को सुखदायक वचन कहा।

श्रीमुनि—नरनाथ ! यह क्या अशोभन चिन्तवन करता है ? क्या भ्रमर कुल सदृश नीलकेशों सहित मस्तक के छेदने से ही प्रायश्चित होता है ? नहीं नहीं ,किन्तु अपनी निन्दा और गर्हा से भी तो प्रायश्चित होता है, ऐसा सुन राजा ने कहा–

यशोमति - श्रीमुने ! मेरे हृदय की गुप्तवार्ता आपने किस प्रकार जानी, इस प्रकार राजा के वचन सुनकर निकटस्थ कल्याणमित्र सेठ ने कहा–

कल्याणमित्र- राजन् ! आपके हृदय की वार्ता को श्री मुनि ने जान लिया सो इसमें क्या आश्चर्य है। श्री केवली भगवान् तो लोका–लोक सम्बन्धी त्रिकालवर्त्ती समस्त चराचर वस्तुओं को एक ही काल में जान लेते हैं । इस प्रकार सेठ के वचन सुनकर राजा ने श्री मुनि से कहा–

नृपति–{हाथ जोड़कर} श्री ऋषिवर्य ! मैं एक वार्ता पूछता हूँ उसे आप कृपाकर वर्णन करें।

श्रीमुनि–नृपवर ! जो तेरी इच्छा हो वह पूछ, मैं जो कुछ जानता हूँ उसे कहूँगा।

यशोमति–{मस्तक नवाकर} श्री मुनि पुगंव ! यह कहिये कि पिता यशोधर महाराज निज माता {मेरी पितामही} सहित मृत्यु प्राप्त होकर कहां उत्पन्न हुए हैं।

श्रीमुनि–नरनाथ ! तुम्हारे पितामह महाराज यशोर्ध पलित केश देख जिस समय वैराग्य भूषित होकर तुम्हारे पिता यशोधर को राज्यलक्ष्मी समर्पण कर आप मदन का मद भंजन करते तपश्चरण के योग से स्वर्ग प्राप्त हुए, उस समय पश्चात् यशोधर महाराज राज्यासन पर तिष्ठते न्यायपूर्वक प्रजापालन करने लगे।

राजन् ! एक दिवस तुम्हारी कुलदेवी के अर्थ यशोधर और चन्द्रमती ने चूर्ण विनिर्मित कुक्कुट का बलिदान किया, पश्चात् विषमिश्रित भोजन कर मरण प्राप्त होकर माता पुत्र दोनों ही श्वान और मयूर हुए।

वे दोनों तुम्हारे ही गृह में वृद्धि को प्राप्त होकर श्वान द्वारा मयूर का मरण हुआ देख तुमने कुत्ते को मारो।

पश्चात् तेरे पिता यशोधर का जीव मयूर की पर्याय छोड़ न्योला और तेरी पितामही {आजी} का जीव कुत्ते की योनि से भायन सर्प हुआ। तदनन्तर दोनों ही परस्पर युद्ध कर प्रथम न्योला ने सर्प को मारा पश्चात् न्योला भी मरण को प्राप्त हुआ।

नृपवर ! तदनंतर तेरी आजी का जीव सर्प के शरीर को त्याग सिप्रा नदी में शंशुमार (सूंसि) हुआ सो तेरी कुब्जि का दासी के मारने के अपराध से तुमने मरवाया, और तुम्हारे पिता का जीव न्योला की पर्याय से उसी सिप्रा में मत्स हुआ वह शंशुमार (सूंसि) की खोज करते समय धीवरों ने पकड़ा पश्चात् वेदाभ्यासी भट्ट ब्राह्मणों के अर्थ पका कर दिया गया।

नृपश्रेष्ठ ! इस प्रकार शंशुमार और मत्स एवं दोनों मरण को प्राप्त हुए तिनमें तेरी माता का जीव शंशुमार (सूंसि) की पर्याय से वन में बकरी हुई और तेरे पिता का जीव मत्स की पर्याय से उसी बकरी के उदर से बकरा हुआ।

राजन् ! संसार की विचित्रता अवलोकन करो कि वह बकरा अपनी माता बकरी के साथ सम्भोग कर यूथ के स्वामी बकरा के श्रृंग से मरण को प्राप्त होकर अपने ही वीर्य से अपनी माता के उदर में पुनः बकरा ही हुआ।

राजेश्वर ! एक दिन तू शिकार के अर्थ वन में गया था। वहां कोई मृग तुझे न मिला इस कारण उधर से लौटकर आ रहा था सो मार्ग में बकरी और यूथपति बकरा का मैथुन देख क्रोधित होकर तूने भाला से मारा सो बकरी के उदर से निकला बकरा तूने अजापालकों के हस्तगत किया सो उन्होंने उस बकरा का पालन–पोषण किया।

वह बकरी मरकर महा भयानक महिष हुआ, उसने तेरी सवारी का घोड़ा मारा, इससे तूने जीवित ही दग्ध किया। पश्चात् पक्व हो जाने पर उसका मांस समस्त ब्राह्मणों को भक्षणार्थ दिया।

उस समय तेरी माता अमृतमती (जोकि कुष्टकर व्याकुल थी) उसे महिष का मांस न रुचा इस कारण रसोईदारों ने उसी बकरे के पग का खण्डनकर पकाकर तेरी माता को तृप्त किया पश्चात् बकरा को मारकर पितरों के श्राद्धके अर्थ ब्राह्मणों को दिया।

नृप ! तू स्मरणकर कि तूने वह बकरा और महिष खंड खंड कर श्राद्ध पक्ष में ब्राह्मणों के भक्षणार्थ दिया था या नहीं ?

वे दोनों बकरा और महिष मरण प्राप्त होकर कुर्कटका युगल हुआ सो नन्दन वन में उनका शब्द श्रवण कर बाण से वेधित किये सो मरकर तेरी कुसुमावली रानी के गर्भ से उत्पन्न होकर अभयमती नाम की कन्या और अभयरूचि कुमार नाम का पुत्र हुआ।

राजन् ! इस प्रकार तेरे पिता यशोधर और तेरी आजी चन्द्रमती एवं दोनों ही मिथ्यात्व के योग से संसार भ्रमण कर पुण्य के योग से तेरे पुत्र पुत्री होकर तेरे गृह में तिष्ठे हुए हैं।

तेरी माता अमृतादेवी निशाचरी समान मांस का भक्षण करने वाली, गुण समूह महा ऋषीश्वरों की निंदा करनेवाली, कुगुरु, कुदेव, कुधर्म के चरणों की वन्दना करनेवाली, जीवित मत्सों को तप्त घृत में पक्वकर ब्राह्मणों को भक्षण कराकर, पश्चात् आप खाकर मदिरा पान कर जारके साथ रमण कर निज पति और सासु को विष देकर मारा जिससे महा कष्ट से पीड़ित होकर आर्त्त रौद्र ध्यान के योग से मरण को प्राप्त हो छठवें नरक में महा दुःखों को सहने वाला नारकी हुआ।

जो मूर्ख पुरूष श्री वृषभदेव कथित धर्म का अवगाहन नहीं करता किन्तु दुष्कर्म करता है वह नरक के बिल में पड़ता है और यह तो सत्य ही है कि श्री पुष्पदन्त जिनवर के वचन को मूर्ख लोक आचरण नहीं करते।

इति महामान्य नन्हकर्णाभरण पुष्पदन्त महाकविविरचित श्री यशोधर चरित्र महाकाव्य में यशोधर चन्द्रमती मनुज जन्म लाभ वर्णन नामक तृतीय परिच्छेद समाप्त हुआ।।३।।

चतुर्थ परिच्छेद

यशोमति, कल्याणमित्र, मारिदत्त व अभयरुचि स्वर्गगमन

अश्रान्तदानपरितोषितवन्दिवृन्दो,
दारिद्र्य रौद्रकरिकुम्भविभेददक्षः।
श्री पुष्पदन्तकविकाव्यरसाभितृप्तः,
श्रीमान् सदा जगति नन्दतु नन्न नामा।।१।।

जो निरन्तर दानकर बंदीजनों को सन्तोषित करता है, जो दारिद्र्यरूप भयानक हस्ती के कुंभस्थल बिदारने में प्रवीण है जो श्री पुष्पदंत नामक महाकवि के काव्य के रस से तृप्त हुआ है और जो लक्ष्मीवान् है वह नन्न नाम का महामंत्री जगत् में सतत् जयवंत रहे।

श्री अभयरुचिकुमार नामक क्षुल्लक महाराज मारिदत्त नृप से कहने लगें–

राजन् ! श्री सुदत्ताचार्य के मुख से मेरे भव सम्बन्धी चारित्र को सुनकर यशोमति महाराज का शोकपूर्ण हृदय कंपमान हुआ तथा हृदयस्थ शोक समस्त शरीर में व्याप्त होकर पश्चात् नयन मार्ग से अश्रुधारा के कण बाहर निकलने लगे।

नृपवर् ! उस समय यशोमति महाराज ने श्री मुनि के चरण कमलों में पड़कर इस प्रकार कहा–स्वामिन् ! जिसने मेरे पिता का घात किया है वह अवश्य निर्दयी और पापी है।

यशोमति महाराज और भी कहने लगे–

हे दयानिधे ! हे करुणासागर ! मैं शीघ्र ही पापशत्रु का संहार कर पुनः किसी भी जीव मात्र से वैर नहीं करूंगा, क्योंकि हमारे पिता यशोधर महाराज और पितामही चंद्रमती ने एक बार ही पिष्ट–निर्मित कुर्कटका कुलदेवी के सम्मुख बलिदान किया, जिससे संसार भ्रमण कर असंख्य कष्टों के भाजन बने और मुझ दुष्ट पापिष्ट द्वारा अनेक बार हने गए।

श्री मुने ! मै ऐसा मूर्ख हो गया कि मुझे इस बात का किंचित् भी ज्ञान नही रहा कि अपने पूज्य पिता और पितामही का वध किस प्रकार कराता हूं।

सत्य ही है कि जिह्वालम्पटी मासभंक्षी ब्राह्मणों के मिथ्या उपदेश से असंख्य जनसमूह नरक निगोद के पात्र बन गये।

स्वामिन् ! जिस धर्म रहित किन्तु अधर्म युक्त श्राद्ध लक्षण और यज्ञ धर्म प्ररूपक शासन में सर्वज्ञ नहीं उस सम्प्रदाय में जीव–दयारूप विवेक किस प्रकार हो सकता है ? जिस धर्म ने वनचर नभचर और जलचर जीवों का बध किया और धर्म कहकर पुकारा उस धर्म में दया लेश नही, किन्तु अज्ञानता से निज कुटुंबियों का भी वध किया जाता है।

नाथ ! मैंने भी वेदाभ्यासी विप्रों के उपदेश से अनेक जीवों का बध किया, इतना ही नही अपने और पितामही के जीव का भी अनेक बार घात किया, उसे देखने को कौन समर्थ है ?

इस प्रकार यशोमति महाराज श्री मुनि के सन्मुख पश्चात्ताप रुप वचन कहकर पश्चात् कल्याणमित्र सेठसे कहने लगे :–

वणिग्वर श्रेष्ठिन् ! तुमने हमारा बडा भारी उपकार किया। आपके संसर्ग से मुनि हत्या से मुक्त होकर संसार भ्रमण से भी रहित हो जाऊँगा। इस समस्त परिग्रह का त्यागकर पाणिपात्र आहार करुँगा।

सिंहासन, छत्र, श्रेष्ठवादित्र, अनेक प्रकार राज्य चिन्ह (वजा पताका), चमर, रथ, श्रेष्ठ मातंग (हस्ती), चपल, तुरंग और अञ्जली जोड़ने वाली भटों की सेना, इत्यादि समस्त राज्य सुख का त्याग किया, किन्तु अभयरुचि कुमार मेरा पुत्र उसका अनुभव करे।

श्रेष्ठिवर ! आप श्रीमुनि से मेरी तरफ से प्रार्थना करो कि मुझपर प्रसन्नचित होकर जिन दीक्षा देंवें।

प्रिय मित्र कल्याणमित्र ! मैं तो जिनदीक्षा ग्रहण करता हूँ और आप नगर में जाकर समस्त नगर कर्मचारीगण और अन्तःपुर निवासियों

को सूचित करो कि यशोमति नृप ने जिनदीक्षा ग्रहण की। तथा अभयरुचि कुमार को राज्य दिया, और केलिकंद सदृश सुकुमार शरीरा, हरिणी नयना अभयमती कुमारी का अहिछत्र नगर के राजा अरिदमन नामक पुत्र के साथ पाणिग्रहण करो।

इह प्रकार महाराज ने जिस समय उपरोक्त वार्ता कल्याण मित्र से कही जो तत्काल बिजली की भांति समस्त नगर में इस प्रकार फैल गई कि, महाराज को बहुत उत्तम प्रकार मृगया (शिकार) का लाभ हुआ, अर्थात श्रीमुनि के दर्शन से धर्म का लाभ हुआ।

उपरोक्त समस्त रहस्य नगरव्यापी होकर अन्तःपुर में भी प्रवेश कर गया, उस रनवास में खलवली पड़गई और परस्पर इस प्रकार वार्त्ता होने लगी–

एक रानी–(दूसरी से) प्रिय भगिनी ! अपने भर्तार ने तो हम तुम सबसे स्नेह छोड़ दिया किन्तु मुनिव्रत ग्रहण कर लिया। अब ललाट में कस्तूरी की रचनासे क्या प्रयोजन ?

अन्य रानी– अरी मुग्धे ! यह विचित्र चित्राम क्यों लिखती है, स्वामी तो काम चरित्र से विरक्त हो गया।

अन्य रानी-(अन्य से) प्रिय सखि ! वस्त्राभरणादि मन्डन से क्या प्रयोजन रहा, प्राणवल्लभ तो तपोमण्डल में रंजितचित्त हुआ है।

अन्य–अरी बावली ! अब क्या बाजे बजाती है ! विधाता तो और ही राग अलापने लगा, अर्थात् प्राणनाथ को समस्त स्त्रियों से विरक्त कर मोक्षवनिता में आसक्तचित्त कर दिया।

एक रानी – शोभने ! अब क्या केश संस्कार करती है ? पति तो निज केशों के उखाड़ने में दत्तचित्त होकर बनवासी हुआ है।

इत्यादि वार्त्ता करती योषितागण हाहाकार का शब्द करने लगी, वहां कोई स्त्री निज कपोलों में विचित्र रचना करती थी वह भर्तार की वार्ता श्रवण कर निज कपोलों मे हाथ रख इस प्रकार हाहाकार करने लगी–हा ! विधाता ! तूने यह क्या विपरीत कार्य किया ?

कोई महारानी मुक्तामणियों को गुण (सूत) में पिरोती थी वह निज प्राणवल्लभ की वार्ता सुनकर निज मनरूप मुक्ता को मुनि के गुणों में लगाने लगी।

कोई स्त्री निज भर्तार को दीक्षा के सम्मुख होने की सूचना श्रवण कर एकदम ऐसी शिथिल शरीरा हो गई कि जिसकी कुंचकी शिथिल होकर गिर पडी।

कोई स्त्री निज भर्तार के बिरह में ब्याकुलचित्ता कंपितगात्रा होती होती प्रस्वेदबिन्दु से व्याप्त होने लगी।

कोई रमणी निज स्वामी की वार्ता श्रवणकर दुःखसे व्याकुल होती अश्रुधारासे मुख प्रक्षालती निजमणियों के पग नूपुरों की झनकार करतीं गृहांगण में भ्रमण करती विलाप करने लगी।

पश्चात् समस्त योषागण बिलाप करती मस्तक और उर स्थल कूंटती, नन्दन वन में जहां श्रीमुनि महाराज के निकट यशोमति महाराज जिन दीक्षा को उद्यमी थे, वहां पहुचीं।

नखों की प्रभा से मणियों की दीप्ति को तिरस्कार करती और चलायमान हारों की मणियों कर युक्त रमणियों ने महाराज यशोमति से इस प्रकार प्रार्थना की–

स्वामिन्, दैवने लक्ष्मी सुख के घातक तपश्चरण द्वारा आपको ठग लिया।

प्राणवल्लभ ! आप स्वर्ग सुख के अर्थ तपश्चरण करते हो सो हम समस्त स्त्रियां अप्सरा हैं, सुन्दर मनोहर महल विमान तुल्य और प्रिय संगम हैं वही सुख है।

इस स्थल में आपको स्वर्ग सुखसे किस बात की न्यूनता है जो आप वर्तमान सुख का तिरस्कार कर आगामी सुख की वाञ्छा कर तपश्चरण के कष्टको सहते हैं ?

इस प्रकार धूर्ता स्त्रियों ने अनेक प्रकार स्नेहरूप पाशसे यशोमति को रोकना चाहा, परन्तु राजा के चित्त में एक भी न आया किन्तु जिनदीक्षा में दत्तचित्त होकर तिष्ठता हुआ।

अभयरुचिकुमार क्षुल्लक मारिदत्त नृपतिसे और भी कहने लगे–राजन् ! जिस समय मुझे और मेरी भगिनी अभयमती को समस्त वृतान्त की सूचना मिली, तत्काल हम दोनों ही अनेक वादित्रो के समूह सें व्याप्त मदोन्मत गजराजों पर चढ़े तथा उच्चस्वर करते पवन तुल्य द्रुतगामी अश्वारुढ़ और नग्न खड्ग धारण किये योद्धाओंकर वेष्टित तथा समान रथों में आरुढ़ सुभटों और पयादों कर युक्त राज–कर्मचारियों कर सहित चमर छत्रादि राज्य विभूति कर पूर्ण पालकी में आरोहण कर नन्दन वनमें जहां श्रीमुनि विराजमान थे, वहां पहुंचे।

हम दोनो भाई बहिनों ने यशोधर नृपको समस्त राज्य परिकर ध्वजा और चमर से रहित तथा चारित्र रत्न के अर्थ हाथ फैलाते पृथ्वीतल पर तिष्ठे सामान्य मनुष्य की भांति देखा।

नृपवर ! उस समय हम भी वहाँ पर बैठ गये। तत्पश्चात् श्रीमुनि के मुख कमल से अपने भवांतर की कथा को श्रवण कर जैसा ही उसका स्मरण हुआ कि तत्काल हम दोनों मूर्छा युक्त होकर पृथ्वीतल पर पड़े। उस समय हमारी माता कुसुमावली हमारे स्नेह में मुग्ध होकर विलाप करने लगी।

तत्काल दासियों ने शीतलोपचार कर हम दोंनो को सचेत किया तो जैसे ही हमारी मूर्छा जागी कि हम दोनो ही श्रीमुनिराजके चरणों को नमस्कार कर तिष्ठे।

नृपवर ! उस समय मेरी माता कुसुमावली मुझे मुनि चरणों के निकट तिष्ठा देख मेरा हाथ पकड़ अपनी गोद में बैंठा कर मुख चूमती कहने लगी –

प्रिय पुत्र ! तू क्यों उदासचित्त हो गया ? तू तो अभी बालक है, तू इन बातों को क्या समझता है ? उठ, घर को चल, निज को दिया शासन कर, इत्यादि वचन कहती अपना उदर स्थल कूटती विलाप करने लगी–

पश्चात् विह्वल चित्त होकर मूर्छा खाकर पृथ्वी में पड़ी। उस समय अन्तःपुर की समस्त रानियों ने अनेक प्रकार शीतोपचार कर समझाया और इस प्रकार प्रिय वाक्य कहने लगी–

एक रानी- प्रिय भगिनी ! उठ उठ प्रिय बचन बोल, नाथ के कहे हुए वचनों को धारण कर। तूने मेरे दुर्भाग्य का तिरस्कार कर सौभाग्य दिया सो अब क्यों विलाप करती है ?

द्वि० रानी- भो सखि ! क्या सोच करती है, तूने मुझे वस्त्राभूषणों से भूषित कर भर्त्तारके पास भेजी थी सो अव भर्त्तार तपश्चरण में तत्पर है सो तू ही यदि ऐसा करेगी तो खबर कौन लेगा ?

अन्य रानी-प्रिय भगिनी ! अब क्या सोच करती है ? हे कल्याण रुपी ! करुणारुपी व्रत ग्रहण के अर्थ जाते हुये निज भर्त्तार का अनुकरण कर।

तदनन्तर मूर्छा को त्यागकर, पड़ता जल का समूह नेत्रों से जिसके ऐसी देवी का मुख शीतकर मुर्झाये शतपत्र कमल तुल्य हो गया।

उस समय कुसुमावली महारानी निज हृदय में चिंतवन करने लगी–ये दोनों बालक श्रीमुनि के बचनों को श्रवण कर मूर्छा को क्यों प्राप्त हुए ?

अभयरुचिकुमार क्षुल्लक मारिदत्त नृप से कहने लगे –राजन् ! उस समय हमारी माता कुसुमावली चिंतवन कर हम दोनों (भ्रात भागिनी)को अपनी गोंद में बैठा कर हमारे मुख पर अपना हाथ फेरकर प्रिय वचन कहने लगी।

कुसुमावली- प्रिय पुत्र ! श्रीमुनि तो निज स्वच्छ ज्ञान द्वारा जगत् के समस्त चराचर पदार्थों को जानते हैं, तुमने क्या जाना और देखा जो मूर्छित होकर पृथ्वीतल पर शयन करने लगे ?

अभयरुचिकुमार- मातुश्री ! हम दोनों ने श्रीमुनि के मुख कमल से निज भवावलिका श्रवण किया। उसी का स्मरण कर हम दोनों

मूर्छित हो गये, क्योंकि ज्ञानी मुनि के वचन कहीं अन्यथा भी होते है? कदापि नही।

कुसुमावली- प्रिय पुत्र ! श्रीमुनिराज ने तुम्हारे भवों का किस प्रकार वर्णन किया उसके श्रवण करने की मुझे विशेष उत्कण्ठा हो रही है सो तू क्या पुनः प्रतिपादन कर सकता है ?

अभयरुचिकुमार-मात् मैं संक्षेप से कहता हूं तू उसे श्रवणकर।

अंबिके ! हम दोनों राजा यशोधर चन्दमती थे। उस भवन में चून का मुर्गा बनाकर देवी के अर्थ बलि प्रदान किया।

उसी मिथ्या कर्मके प्रसाद से विष मिश्रित भोजनों के योग से मरण प्राप्त कर मयूर और श्वान भए वहां अरण्य में न्योला और सर्प, वहां से सिप्रा नदी में सूंसि और मत्स्य, वहां बकरा और महिष, वहां से कुर्कट युगल और उस पर्याय से तेरे स्वच्छ उदर से पुत्र–पुत्री हुए।

इस कारण हे वर्तमान भव की मात ! हे पूर्व भव की पुत्रबधू! अब तू श्रीमुनि के चरणो को प्रणाम कर।

इस प्रकार हमारे कहने से श्रीमुनि को प्रणाम कर महाराज यशोमति नृपति के आदेश से महाराज और मुझ सहित नगर प्रति पधार गई, उसके साथ समस्त रानी, राजा कर्मचारी, और कल्याणमित्र सेठ भी नगर में पहुंच गये, वहां कल्याण मित्र सेठ ने मुझसे कहा–

कल्याणमित्र- प्रिय भ्रात अभयरुचिकुमार ! तुम्हारे पिता महाराज यशोमति तो दीक्षाके अर्थ उद्यमी है, अब तुम इस सप्तांग राज्य का न्यायपूर्वक पालन करो, और कुटुम्बीजनों को तथा अपनी माता को संतोषित करो।

उपरोक्त कल्याणमित्र सेठ के वचन सुनकर, अनेक भवों के खेद से खेदित मैं इस प्रकार कहने लगा–

मैं (अभयरुचिकुमार) श्रेष्ठिवर्य ! यह यशोमति पूर्व भवान्तर में नन्दायक मेरा पुत्र था, उसे मैंने ही राज्य में स्थापन किया था इस

भव में चन्द्रमा सदृश्य मुख का धारक मैं उसका पुत्र हुआ हूं। सेठजी ! दैव ने कितना उत्तम शिक्षण किया ?

वणिग्वर ! अब आप ही कहिये, कि दान क्रम को क्या मैं उल्लंघन करुँ ? अर्थात् निज हस्त द्वारा दिये दान का पुनः ग्रहण करुं।

अब तो मोह पटल रुप सघन वस्त्र से वेष्टित, स्नेहरुप पर्वत की गुफा का स्फोटन तपोलक्ष्मी का मुखावलोकन करुंगा।

कल्याण मित्र–प्रिय कुमार ! अभी तपश्चरण का कौन समय है ? इस समय आपको सबसे प्रथम राज विद्या की शिक्षा लेना आवश्यक है, क्योंकि राज विद्या बिना राज्य शासन करना दुसाध्य है, और राज्य बिना समस्त प्रजा अन्याय मार्ग में प्रवर्तने लगती है। इससे श्रावक धर्म, मुनि धर्म दोंनो नष्ट हो जाते हैं।

कुमार ! जब जिनराज कथित दोनो मार्ग धरातल से जाते रहें, तो राज गृह में जन्म लेना ही आपका व्यर्थ हो गया, इस कारण राज्य करना परम आवश्यक कार्य है।

राज्य कर्म का जानना आन्वीक्षिकी विद्या, निज देह रक्षण और मनुष्यों में धर्माधर्म की विधि, त्रियी विद्या, अर्थ और अनर्थ की प्रवृत्ति रुप ज्ञान वार्ता विद्या और सुनय और कुनय के मार्ग के प्रवक्ता बनें। रुप दन्ड़ का जानना, दण्ड नीति एवं उपरोक्त चारों ही राज विद्याओ का ज्ञान होना प्रथम कर्तव्य कर्म है ऐसा सुन मैंने कहा।

क्षमा इन्द्रियोंका दमन, समभाव, सत्य और निर्मल शौच द्वारा ही जीव दया प्रतिपादन की गई है सो पूर्ण दया के पालक मुनियों का धर्म, गृहस्थों से ही चलता है, मैंने यह निश्चित जान लिया है।

वणिक श्रेष्ठ ! इन्द्र, धरणेन्द्र, नरेन्द्र और खगेन्द्रों कर पूजित श्री भगवान् सर्वज्ञ–भाषित जो धर्म है वह राज्य शासन बिना नष्ट हो जाता है।

अभयरूचि कुमार क्षुल्लक मारिदत्त नृपति से और भी कहने लगे कि–नृप–श्रेष्ठ ! उस समय यद्यपि मैं संसार के दुखों से अत्यन्त

भययुक्त था तथापि पिता द्वारा दिये पाप रूप राज्य को अंगीकार किया ही।

राजन् ! जिस समय मेरा राज्याभिषेक हुआ उस समय विविध प्रकार रत्नजडित वस्त्र आभूषणों से भूषित दिव्य अंगनाओं के समूह चमर ढ़ोरते थे।

कोई योषितागण ध्वजा हाथ में लिये इधर उधर घूमती थीं, किसी स्थान में केशर, कस्तूरी, कर्पूर आदि की सुगन्ध से भ्रमर गुंजार करते थे, कहीं गन्धर्वजन वीणा मृदंगादि वादित्रों को बजाते अनेक प्रकार मनोहर स्वरों में यशगान करते थे, किसी स्थल में मदोन्मत्त हाथियों के शब्द, कहीं मनोहर तुरंगों का गमन कर्णों को तृप्त करते थे, और वादित्रों की ध्वनि से मिले हुए लोगों की जयकार ध्वनि से समस्त नगर. पूरित हो रहा था।

इत्यादि शोभा और उत्सव सहित मेरे पिता यशोमति महाराज ने मेरा राज्यारोहण किया पश्चात् मुझे और मेरी माता आदि समस्त कुटुम्ब को सम्बोधित कर वन को गमन कर गए।

वहाँ श्री मुनिराज को विनयपूर्वक नमस्कार कर भव भ्रमण नाशिनी दिगम्बरी दीक्षा धारण करते भये।

नृपवर ! हमारे पिता यशोमति ने जिस समय तपश्चरण ग्रहण किया, उसी समय अन्तःपुर की योषिताओं ने भी अर्जिका के व्रत ग्रहण किये।

यशोमति महाराज ने दीक्षा ग्रहण करते समय निज कर कमलों द्वारा केशों का लुंचन किया सो मानों अंतरंग से कृष्ण नीललेश्या का ही तिरस्कार किया। यशोमति महाराज ने जो वस्त्र आभूषण और शस्त्रआदि समस्त परिग्रह का त्याग किया सो मानों रागद्वेषका ही अन्तरंग से परिहार किया।

नृपराज ! हमारे पिता ने ऋषियों के चारित्र को ग्रहण कर घोर वीर तपश्चरण का आरम्भ किया वह तपश्चरण, जन्म मरणादि व्याधियों

का नाशक है। उसी को धारणकर यशोमति मुनि रागद्वेष, मान, मत्सर आदि भावों को त्याग, कर्म रूप पाश के नाश करने को निर्जन वन, शमशान भूमि और गिरि गुफा आदि में निवास करते बेला, तेला, पक्ष, मासोपवास धारण करते थे।

गुणरूप मणियों से भूषित हमारे पिता ने घर के मोह को छोड़ निज मन को रोक, माया, मिथ्या और निदान इन तीनों शल्यों का खण्डन कर पाँचों इन्द्रियों को दंडित कर निर्जित किया।

क्षुल्लक महाराज कहने लगे–राजन् ! हमारे पिता यशोमति तो उपरोक्त प्रकार तपश्चरण से निज कर्मों को नष्ट करने लगे और मैं संसार से उदास तो था ही, किन्तु पिता और कल्याणमित्र सेठ के आग्रह से मैंने राजभार ग्रहण कर लिया था। तो भी निज मन की उदासीनता को कहाँ तक रोकता ?

इस कारण अति विनययुक्त निज द्विमात भाई को कुल की लक्ष्मी सौंपकर शोभित राज्यभार समर्पण कर उपशम भाव सहित समस्त गृहारंभादि कार्यों का त्याग कर मैं और मेरी भगिनी अभयमती दोनों ही संसार देह भोगों से विरक्त होकर जहाँ उद्यान में श्री दिगम्बर साधु विराजमान थे, वहां जाकर श्री मुनिको नमस्कार कर प्रार्थना करने लगे–स्वामिन् ! हमको जिन दीक्षा दीजिये। इस प्रकार हमारी प्रार्थना को सुनकर वे वीतराग भावके धारक श्री भट्टारक महाराज कहने लगे–

भट्टारक-अहो वत्स ! अभी तो तुम क्षीण शरीर कमल दलतुल्य कोमलांगी बालक हो और जिन दीक्षा अत्यन्त दुःसह है इसका निर्वाह बालकों से नहीं हो सकता इस कारण उत्तम श्रावक के व्रत को तुम ग्रहण करो।

भो पुत्र ! तुम दोनों भ्राता भगिनी; यद्यपि संसार देह भोगों से विरक्त–चित्त हो इस कारण तुम्हारा परिणाम अभी जिन दीक्षा के ग्रहण में वृद्धिंगत हो रहा है, परन्तु तुम अभी सुकुमार अल्प वयस्क बालक हो। इस कारण मुनिराज के लघु भ्राता क्षुल्लक के व्रत को धारण करो।

कुमार ! यद्यपि तुम्हारा हृदय उच्च श्रेणी के आरोहण में संलग्न है, तथापि प्रथम इस क्षुल्लक व्रतका साधन करो इसमें पूर्ण सिद्धि हो जावे पश्चात् मुनिव्रत ग्रहण करना, ऐसा करने से तुम्हारा निर्वाह पूर्णतया हो जायगा।

इस प्रकार श्रीमुनि महाराज के वचन श्रवण कर हम दोनों ने पूछा–स्वामिन् ! यह तो बतलाइये कि इस क्षुल्लक व्रत में हम दोनों को क्या कार्य करना होगा ?

श्री मुनि कहने लगे–भो वत्स ! इस व्रत में प्रथम ही गुरु सेवापूर्वक शास्त्राभ्यास करो जिसके द्वारा अन्य मतों की मूर्खता का बोध होने से स्वमत में आस्था होगी तब सम्यग्दर्शन की दृढ़ता होगी।

इस सम्यक्त्व की शुद्धता के अर्थ जात्यादि अष्टमद, शंकादिक अष्ट दोष, षट् अनायतन और मूढ़ता इन पच्चीस दोषों का निराकरण से, जिससे सम्यग्दर्शन शुद्ध होकर संसार का नाशकर मोक्षप्राप्ति में यथार्थ सहायक होगा।

राजन् ! उपरोक्त प्रकार श्री मुनि के वचन सुन मैंने पुनः पूछा–

स्वामिन् ! आपने जो कुछ कहा वह सर्व सत्य है, परन्तु इतने कहने से तृप्ति नहीं हुई इस कारण उपरोक्त कथन को पुनः विस्तारपूर्वक प्रतिपादन कीजिये अर्थात् अष्टमद कौन ? षट् अनायतन कैसे ? और शंकादिक दोष कौन ? इत्यादि समस्त कथन पुनः कहिये।

इस प्रकार हमारे प्रश्न करने पर मुनि महाराज ने उत्तर दिया–कुमार! उपरोक्त कथन को मैं पुनः कहता हूँ, तू चित्त लगाकर श्रवण कर।

श्री मुनिराज-वत्स ! प्रथम अष्ट मदों का वर्णन करता हूँ। अर्थात् ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और वपु आठ प्रकार का मद आचार्यों ने वर्णन किया है।

उपरोक्त ज्ञानादिक का अहंकार करना सम्यग्दर्शन को दूषित करना है इस कारण ज्ञानादिक का मद नहीं करना।

इसी प्रकार जिन वचन में सन्देह करना शंका, इस भव तथा परलोक सम्बन्धी भोगों की वांछा, कांक्षा, दुःखी दरिद्री, रोग पीड़ित को देख ग्लानि करना विचिकित्सा।

देव, शास्त्र और गुरु की सेवा आदि में मूर्खता करना अर्थात् देव कुदेव में, शास्त्र कुशास्त्र में और सुगुरू कुगुरू में किसी प्रकार का भेद न जानकर सबकी पूजा, विनय, उपासना आदि में तत्पर रहना मूढ़ दृष्टि।

जिस कार्य से जैन शासन की निंदा होवे उसे प्रगट करना इत्यादि अनुपगूहन, जिस कार्य से अन्य जीव धर्म से च्युत हो जावें वह अस्थितिकरण।

स्वधर्म प्रतिपालकों से स्नेह नहीं करना अवात्सल्य और जिनशासन की प्रभावना न करना उसे अप्रभावना कहते हैं।

इसी भांति कुगुरु, कुदेव, और कुधर्म, तीन ये यथा कुगुरु के सेवक, कुदेव के पूजक और कुधर्म के धारक, तीन ये इसप्रकार इन छहों की प्रशंसा वाचक शब्द कहना षट् अनायतन हैं।

यथा धर्म जानकर गंगा आदि नदियों तालाबों और समुद्र में स्नान करना–बालुका और पत्थरों का ढेर करना, गिरि से (पर्वतों से) गिरना, अग्नि में प्रवेश करना आदि मूर्खों की देखादेखी विवेक बिनागाड़री प्रभाव तुल्य कार्य करना लोकमूढ़ता है।

तथा वरकी इच्छा से हृदय में आशा धारण कर रागी द्वेषी देवों अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश, शीतला, दिहाड़ी आदि क्षुद्र देवता तथा पीर पैगम्बर आदिकों की उपासना करना अर्थात् उपर्युक्त रागी द्वेषी देवताओं की पूजा पैलागी करना देव मूढ़ता है।

इसी प्रकार परिग्रह आरंभ और हिंसा सहित संसार चक्र में रहने वाले पाखण्डी साधु तपस्वियों का आदर सम्मान, भक्ति पूजा करना पाखण्डी मूढ़ता अर्थात् गुरु मूढ़ता है।

इस प्रकार उपरोक्त पच्चीस दोषों को त्यागने से सम्यग्दर्शन शुद्ध होता है और यही देव शास्त्र गुरुका तथा तत्वार्थ का श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन, निःशंकादि अगें से जब पूर्ण होवे तब निर्मल होता है, इस कारण सम्यक्त्व के अष्ट अंगें का वर्णन करते हैं।

सम्यक्त्व के आठ अंगों का वर्णन

निःशंकित अंग।।१।।

सर्वज्ञ वीतराग के कथित तत्व (वस्तु का स्वरूप) यही है, इसी प्रकार है, और नहीं तथा अन्य प्रकार भी नहीं, इस प्रकार जैन मार्ग में खड्ग के जल समान अकम्प (निश्चल) श्रद्धान को निःशंकित अंग कहते हैं।

निःकांक्षित अंग।।२।।

कर्मों के परवशरूप, नाशवान्, दुःखों से पूर्ण, पाप का बीजभूत और अनित्य एवं सांसारिक सुखको अनित्य रूप श्रद्धा अर्थात् उपरोक्त प्रकार संसार के सुख की वांछा न करना निःकांक्षित गुण है।

निर्विचिकित्सा अंग।।३।।

दुःखी दरिद्री और रोग पीड़ित जीवों के शरीर को देखकर ग्लानि न करना तथा स्वभाव से ही अपवित्र किंतु रत्नत्रय से पवित्र धर्मात्माओं के शरीर में घृणा न करना किंतु गुणों में प्रीति धारण करना निर्विचिकत्सा अंग है।

अमूढ़दृष्टि अंग।।४।।

दुखोंसे पूर्ण कुत्सित मार्ग तथा मिथ्या पथ के पथिक मिथ्यादृष्टियों में मन कर सम्मत न होना, काय कर सराहना न करना, और वचन द्वारा उनकी प्रशंसा न करना, उसे अमूढ़दृष्टि कहते हैं।

उपगूहन अंग।।५।।

श्री जैन मार्ग यद्यपि स्वयं पवित्र है तथापि मूर्खजन उसकी निंदा करते हैं ,सो जो जैन मार्ग की निंदाको दूर करे वह उपगूहन अंग है, अर्थात् जो जैनी स्वयं निंदित कार्य न करे तथा किसी धर्मात्मा द्वारा किसी प्रकार कर्मोदय से निंद्य कार्य बन गया हो तो उसे गुप्त रखना किंतु उसे प्रकट न होने देना, यही उपगूहन अंग है।

स्थिति करण अंग।।६।।

सम्यदर्शन ,सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र से किसी कारणच्युत हुए प्राणियों को निज तन मन और धनसे तथा उत्तम उपदेश द्वारा धर्म में स्थापित करना उसे स्थितिकरण कहते हैं।

वात्सल्य अंग।।७।।

जो अपने सहधर्मी भाइयों के प्रति समीचीन भावों सहित किंतु छल कपट रहित यथायोग्य आदर सत्कार करना उसे वात्सल्य कहते हैं।

प्रभावना अंग ।।८।।

मिथ्यात्व अज्ञानरूपी अंधकार के विस्तार को जिस प्रकार हो सके उस प्रकार अर्थात् निज ज्ञानोपदेश,पूजा ,प्रतिष्ठा और तपश्चरण आदि द्वारा तथा तन, मन, धन से अन्य मतावलंबियों में जिन मतका महत्व–प्रभाव प्रगट कर देना उसे वीतराग सर्वज्ञ ने प्रभावना अंग वर्णन किया है।

वत्स ! जिस प्रकार अक्षर रहित मंत्र विष की वेदना को दूर नहीं कर सकता उसी प्रकार अंगहीन सम्यग्दर्शन भी संसार की परिपाटी के छेदन में समर्थ नहीं होता, इस कारण अष्टांग सम्यग्दर्शन भी धारण करना योग्य है।

इस प्रकार कथन कर श्री मुनिराज ने और भी कहा–

परमतके नयका विध्वंस करनेवाले सम्यग्दर्शन को प्रथम अपने हृदय में धारण करना पुनः संसार सम्बन्धी पापों के हरण करने वाले बाह्याभ्यंतर तपका आचरण करना।

जैसे नायक बिना रथ घोटक मदोन्मत्त हस्ती और अनेक सुभटों की सेना शत्रु के सम्मुख युद्ध करने में असमर्थ हो जाती है उसी प्रकार एक सम्यग्दर्शन बिना अनेक प्रकार दुर्द्धर तपश्चरण भी निरर्थक हैं।

इसी प्रकार जैसे बीज बिना वृक्ष की उत्पत्ति स्थिति वृद्धि और फलोद्गम नहीं होता उसी प्रकार सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान और चरित्र की उत्पत्ति स्थिति वृद्धि और पूर्ण फल की प्राप्ति नहीं होती।

उपरोक्त सम्यक्त्व के समान इस जीव का तीन लोक में कोई कल्याणकारी नहीं इसी प्रकार मिथ्यात्व समान इस जीव का लोकत्रय में कोई अकल्याणकारी नहीं। इस कारण मिथ्या स्वरूप विषको बमन कर सम्यक्त्व रूप अमृत का पान करना योग्य है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन को धारण करने से ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान हो जाता है इस कारण सम्यग्ज्ञान का स्वरूप संक्षेप मात्र तुझे सुनाता हूँ।

सम्यग्ज्ञान का स्वरूप

जो पदार्थों के स्वरूप को न्यूनता रहित तथा अधिकता रहित और विपरीतता रहित अर्थात् जैसा का तैसा संदेह रहित जाने उसे सम्यग्ज्ञान कहते है।

यही सम्यग्ज्ञान ! सर्वज्ञ वीतराग कथित स्याद्वादयुक्त शास्त्र द्वारा उत्पन्न होता है और वह जैन शास्त्र प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, और द्रव्यानुयोग इन चार अनुयोगों में विभक्त हुआ है इस कारण उपरोक्त इन चार अनुयोगों का संक्षेप सुनाता हूँ।

प्रथमानुयोग

जो परमार्थ विषय अथवा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष कहने वाला हो, एक पुरुष के आश्रय जिसमें कथन हो, तथा जिसमें त्रेशठ शलाका पुरूषों का चरित्र प्रतिपादन किया हो, जिसमें पुण्य पाप के फल का वर्णन हो और जो रत्नत्रय का भण्डार हो वह प्रथमानुयोग करणानुयोग, आचार्यों ने कहा है।

जो लोक अलोक के विभाग को तथा युगों (कालों) के परिवर्तन को तथा चारों गतियों का आदर्शक हो वह करणानुयोग है अर्थात् जिसमें लोक और अलोक के स्वरूप का वर्णन हो, जिसमें अवसर्पिणी काल की आयुकाय आदि का वर्णन हो जिसमें चर्तुगति के जीवों के बन्ध सत्व उदय और उदीरणा तथा सर्व प्रकार के जीवों के परिणामों का कथन हो वह करणानुयोग है।

चरणानुयोग

जो गृहस्थ और मुनियों के चारित्र की उत्पत्ति वृद्धि और रक्षा का अटभूत हो अर्थात् जिसमें गृहस्थ धर्म और मुनि धर्म की विधि का पूर्ण कथन हो वह चरणानुयोग है।

द्रव्यानुयोग

जो जीव अजीव रूप तत्त्वों को तथा पुण्य पाप और बन्ध मोक्ष का विस्तार पूर्वक कहने वाला हो वह द्रव्यानुयोग है।

इस प्रकार उपरोक्त चारों अनुयोगों के रहस्य का ज्ञाता सम्यग्दर्शन पूर्वक सम्यग्ज्ञान को धारण करता है इसके पश्चात् सम्यक्चारित्र का स्वरूप संक्षेप प्रतिपादन करता हूँ। उसे चित्त लगाकर श्रवण करो।

यद्यपि मोहान्धकार के नाश से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, तो भी राग द्वेष की निवृत्ति के अर्थ सम्यग्ज्ञानी को एकदेश तथा सर्वदेश पंच पापों का त्याग रूप व्यवहार चारित्र का पालन करना परमावश्यक है।

जिस पुरुष को धनादिक की कांक्षा नहीं वह राजादिकों की सेवा क्यों करेगा ? और जो धनादिक का इच्छुक है, वह राजादिकों की सेवा अवश्य करेगा, इसी भाँति जो पंच पापों से मुक्त होने का इच्छुक है वह रागद्वेष की निवृत्ति अवश्य करेगा।

क्योंकि रागद्वेष के त्याग बिना पाँच पापों का त्याग नहीं होता, और पांच पापों के त्याग बिना रागद्वेष निवृत्ति रूप चारित्र का पालन नहीं होता इस कारण उपरोक्त दोनों के त्याग को ही चारित्र कहते हैं उसी का पालन करना उचित है।

इन पंच पाप के त्याग रूप चारित्र के सकल और विकल दो भेद हैं अर्थात् सकल चारित्र जिसमें पंच पापों का सर्वथा त्याग जिसे मुनिधर्म भी कहते है, वह सकल चारित्र है, और जिसमें एकदेश पंच पापों का त्याग हो उसे गृहस्थ प्रतिपादन करते हैं वह विकल चारित्र है।

यही विकल चारित्र, अर्थात् जिसमें हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह की तृष्णा इन पंच पापों का एकदेश रूप त्याग चारित्र श्रावक धर्म है, वह अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत एवं तीन भेद इन्हीं के उत्तर भेद पंच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत एवं द्वादश भेदरूप है तिनमें प्रथम पंच अणुव्रतों के स्वरूप का वर्णन करते हैं–

पांच अणुव्रतों का स्वरूप

जो हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, और परिग्रह इन पंच पापों से विरक्त होना, उसे अणुव्रत संज्ञा है इसमें प्रथम हिंसा के त्याग रूप प्रथम अहिंसा अणुव्रत का वर्णन करते हैं–

अहिंसा अणुव्रत

जो मन, वचन और काय के संकल्प से तथा कृत, कारित और अनुमोदना से त्रस अर्थात् दो इन्द्रिय, तेंद्रिय, चतुरिंद्रिय, और पंचेन्द्रिय जीवों को जो नहीं हनता उस क्रिया को (स्थूल हिंसा से विरक्त होने रूप) अहिंसा अणुव्रत कहते हैं।

इसको मलिन करने वाले पंच अतीचार हैं, जिनके स्वरूप कहते हैं अर्थात् छेदना, बांधना, पीड़ा देना, मर्यादा से अधिक भार का लादना, और आहार पानी में त्रुटि करना एवं स्थूल हिंसा के त्याग रूप अहिंसा अणुव्रत के पंच अतीचार है।

सत्य अणुव्रत

जो स्थूल झूठ न तो आप बोले और न औरों से बुलवाये तथा जिस वचन से किसी को आपदा आ जावे ऐसा यथार्थ भी न आप कहैं न दूसरों से कहलावें उसको सत्पुरुष स्थूल झूठ त्याग रूप सत्याणुव्रत कहते हैं।

सत्य अणुव्रत के पांच अतिचार

मिथ्या उपदेश देना, किसी के गुप्त रहस्य को प्रगट करना, अर्थात् अंग विकार भूक्षेपादि से किसी का गुप्त अभिप्राय जानकर निन्दापूर्वक प्रगट करना (इसको साकार मंत्र भेद भी कहते है)

पैशून्य अर्थात् चुगली व निन्दा करना। कूटलेखकरण अर्थात् झूठी बातें लिखना और न्यासापहारिता अर्थात् किसी ने गहने रूपये बगैरह, अमानत रक्खे हों और लेते समय गिनती में उसने भूलकर कुछ माँगे तो अपने याद रहते भी हाँ इतने ही थे सो ले जाओ इत्यादिक कहना सत्य अणुव्रत के पांच अतीचार है।

अचौर्य अणुव्रत

जो रक्खे हुए, गिरे हुए, भूले हुए, और धरोहर रक्खे हुए परद्रव्य को न स्वयं हरण करता है, और न दूसरों को देता है, वह स्थूल चोरी से विरक्त होने रूप अचौर्य अणुव्रत आचार्यो ने कहा है।

अचौर्याणुव्रत के पांच अतिचार

चोरी का उपाय बताना, चोरी का द्रव्य लेना, राजा की आज्ञा का उल्लंघन करना अर्थात् राजा के महसूल आदि को चुराना, अधिक मूल्य की वस्तु में हीन मूल्य की वस्तु मिलाना और नापने तौलने के गज बाट तराजू आदिक हीन अधिक रखना ये स्थूल चोरी के त्याग के पांच अर्थात् आचौर्यणुव्रत के अतिचार कहे हैं।

परदार निवृत्ति अर्थात् शीलव्रत

जो पाप के भय से न तो स्वयं परस्त्री प्रति गमन करे और न दूसरों को गमन करावे वह परस्त्री त्याग अर्थात् स्वदार संतोष नामक अणुव्रत है।

परस्त्री त्याग व्रत के पांच अतिचार

दूसरे के विवाह कराना, कामसेवन के अंगों से भिन्न भिन्न अंगों द्वारा कामसेवन करना भंड वचन बोलना, स्वस्त्री के सेवन में भी अत्यन्त गृद्धता रखना और व्यभिचारिणी स्त्री के घर जाना तथा उससे किसी भी प्रकार का सम्बन्ध रखना एवं स्त्री त्याग व्रतके पांच अतीचार हैं।

परिग्रह परिमाण व्रत

जो वर्तमान धन्य धनादि दस प्रकार के परिग्रह का परिमाण करके उससे अधिक में इच्छा न करना, अर्थात् जितना परिग्रह अपने गृह में विद्यमान है उसमें से आवश्यक पदार्थों का परिमाण करके शेष से इच्छा का अवरोध करना, वह परिग्रह परमाण नामक अणुव्रत है।

परिग्रह परिमाणव्रत के पांच अतीचार

प्रयोजन से अधिक सवारी रखना आवश्यक वस्तुओं का अतिशय संग्रह करना परवैभव देख आश्चर्य करना, बहुत लोभ रखना, और परिमाण से अधिक भार का लादना एवं परिग्रह परिमाण व्रत के पांच अतीचार है।

श्री मुनिराज कहने लगे– वत्स ! अतीचार रहित पंच अणुव्रतों के धारण करने से स्वर्ग लोक की लक्ष्मी प्राप्त होती है जहाँ अवधि ज्ञान, अणिमादि ऋद्धियाँ और मनोहर शरीर आदि सुखदा सामग्री की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार कहकर श्री मुनि–पुंगवने और भी कहा हे– राजकुमार ! उपरोक्त पंच अणुव्रतों को धारण करने वाला श्रावक अष्टमूलगुणों को धारण करता है अर्थात् पंच अणुव्रतों सहित मधुमांस और मदिरा के त्याग को अष्टमूलगुण कहते है।

कोई कोई आचार्य ऊँमर, कठूँमर, पीपर, बड़ और पाकर फल एवं पंच उदम्बर तथा मदिरा, मांस, और मधु एवं तीन मकार इन आठ वस्तुओं के त्याग को अष्टमूलगुण कहते है।

इसप्रकार पांच अणुव्रत और अष्टमूलगुणों का वर्णन कर अब तीन गुणव्रतों को कहता हूँ, तिन में प्रथम गुणव्रत का स्वरूप तुझे सुनाता हूँ।

तीन गुणव्रत का स्वरूप

गुणों की वृद्धि के अर्थ दिशादिकों की तथा भोगोपभोग की मर्यादा और अनर्थ दण्ड के त्याग को गुणव्रत कहते हैं।

यह गुणव्रत, दिग्व्रत, भोगोपभोग परिमाण और अनर्थ दण्ड त्याग एवं तीन प्रकार, अब इनके भिन्न भिन्न के स्वरूप का वर्णन करते हैं।

दिग्व्रत का स्वरूप और उसके धारण करने की मर्यादा मरण पर्यन्त पाप की निवृत्ति के अर्थ दिशाओं के परिमाण से इसके बाहर न तो जाऊँगा और न किसी प्रकार का व्यवहार करूँगा इस प्रकार के संकल्प करने को दिग्व्रत कहते हैं।

जहां दशों दिशाओं के त्याग में प्रसिद्ध प्रसिद्ध समुद्र, नदी, वन, पर्वत, देश और योजन आदि की हद्दको मर्यादा कहते है।

दिग्व्रत का फल

दिग्व्रत के धारने वाले को मर्यादा से बाहर सूक्षम पाप की निवृत्ति होने से जो अणुव्रत है वे ही पंच महाव्रतों के समान हो जाते है अर्थात् दिग्व्रत का धारक अपनी की हुई मर्यादा में तो श्रावक ही है किन्तु मर्यादा से बाहर न जाने से वहां पर कोई भी पाप नहीं करते इस कारण मर्यादा से मुनिराज के समान सर्व त्यागी हैं।

दिग्व्रत के पांच अतीचार

अज्ञान व प्रमाद से ऊपर, नीचे तथा दिशा और विदिशाओं की मर्यादा का उल्लंघन करना, क्षेत्रकी मर्यादा बढ़ा लेना और की हुई मर्यादा को भूल जाना इस प्रकार दिग्व्रत के पांच अतीचार हैं।

अनर्थदण्ड का स्वरूप और भेद

पूर्व की हुई दिशाओं की मर्यादा के भीतर किसी प्रकार के प्रयोजन के बिना पाप रूप आचरण करना उसे अनर्थदण्ड कहते हैं। यह पापोपदेश १. हिंसादान, २. अपध्यान, ३. दुःश्रुति, ४., और प्रमादचर्या एवं पांच प्रकार है। अब इनके भेदों का वर्णन करते हैं।

पापोपदेश अनर्थदण्ड

जिस वचन में तिर्यंचों को दुःख वाणिज्य हिंसा आरंभ और ठग विद्या आदि का प्रसंग आवे वह पापोपदेश नामका अनर्थदण्ड है।

हिंसादान अनर्थदण्ड

जो फरसा, तलवार, फावड़े, अग्नि, आयुध, सींगी, सांकल और रस्सी आदि हिंसा के उपकरण अपने यहां रखकर दूसरों–को मांगे देना तथा उनका व्यापार करना अर्थात् जिन वस्तुओं में हिंसा की प्रवृत्ति विशेष पाई जाय उन हिंसा के उपकरणों को मांगे देना या उनका व्यापार करना उसे हिंसादान नामक अनर्थदण्ड कहते हैं।

अपध्यान अनर्थदण्ड

क्रोध, मान, माया, लोभ तथा हास्यादि द्वारा अन्य स्त्री पुरुषों के नाश आदिका चिंतवन अथवा इस लोकपरलोक संबंधी विषयों की इच्छा की अभिलाषा आदि, रौद्र तथा आर्त्त ध्यान रूप परिणामों को अपध्यान नामक अनर्थदण्ड कहते हैं।

दुश्रुति अनर्थदण्ड

आरम्भ, परिग्रह, मिथ्यात्व, द्वेष, राग, मद, और मदन आदि से चित्त को क्लेशित करने वाले शास्त्रों के सुनने को दुश्रुति नामक अनर्थदण्ड कहते हैं।

प्रमादचर्या नामक अनर्थदण्ड

बिना प्रयोजन पृथ्वी, जल, अग्नि और पवन के आरम्भ करने, वनस्पति छेदने, पर्यटन करने और दूसरे को पर्यटन कराने को प्रमादचर्या नामक अनर्थदण्ड कहते हैं।

उपर्युक्त अनर्थदण्ड के त्याग को अनर्थदण्ड त्याग नामक व्रत जानना, अब इस व्रत के भंग करनेवाले पांच अतीचारों को कहते हैं।

अनर्थदण्ड के पांच अतीचार

रागपूर्वक हास्य मिश्रित भंड वचन बोलना, कार्यकी कुचेष्टा करना, वृथा बकवाद करना, व्यर्थही भोगोपभोग की सामग्री बढ़ाना और प्रयोजन की जांच किये बिना ही अथवा प्रयोजनरहित अधिकता

के साथ मन, वचन और काय की प्रवर्त्ति को बंढ़ाना ये अनर्थदण्ड व्रत के पांच अतीचार हैं।

भोगोपभोग परिणाम व्रत का स्वरूप

जो रागादि भावों के घटाने के अर्थ परिग्रह परिमाण व्रतकी मर्यादा में भी प्रयोजनभूत इन्द्रियों के विषयों का प्रतिदिन परिमाण करना उसे भोगोपभोग परिमाण व्रत कहते हैं।

भोग और उपभोग का निर्णय

जो भोजन वस्त्र आदि पंचेन्द्रिय सम्बन्धी विषय, भोग करके पुनः त्यागने योग्य हों, अर्थात् एकबार भोगकर फिर भोगने में नहीं आवे वह भोग है, और जो एकबार भोग करके फिर भी भोगने में आवे वह उपभोग है।

जैसे जो भोजन एक बार भक्षण कर लिया, वह भक्षण किया हुआ पुनः भोगने में नहीं आवे वह भोग है, और जो स्त्री वस्त्र आभूषण आदि को एक बार भोगकर फिर भोगा जा सकता है इस कारण वह उपभोग है।

इसी भोगोपभोग परिमाण व्रत में विशेष त्याग

जिनेन्द्र भगवान् के चरणों की शरण में आनेवाले महानुभावों द्वारा त्रस जीवों की हिंसा के निवारणार्थ मधु मांस का त्याग करना तथा प्रमाद दूर करने के अर्थ मदिरा का परिहार करना योग्य हैं।

जिसमें फल तो अल्प हो और त्रस (द्वीन्द्रियादि) जीवों की हिंसा अधिक हो तो ऐसे, गीले अर्थात् सचित्त (जीवयुक्त) अदरख, मूली, गाजर, आलू आदि कन्दमूल तथा मक्खन, (नौंनी) निंब और केतकी आदि के पुष्प इत्यादि समस्त वस्तुओं का त्याग करना योग्य है।

व्रत लक्षण

जो अनिष्ट (हानिकारक) हो उसे छोड़े और जो उत्तम कुल के सेवन करने योग्य न हो उसे भी छोड़े क्योंकि योग्य विषय से अभिप्रायपूर्वक की हुई विरक्ति ही को व्रत संज्ञा प्रति पादन की है।

अर्थात्- जो शरीर को हानिकारक अथवा अपने को प्रिय नहीं है उसे तो हम स्वयं ही सेवन नहीं करते, इसके त्याग को व्रत नहीं कहते तथा जो गोमूत्र, मद्य, मांस, मदिरा कन्दमूल, अनछना जल, रात्रि भोजन, आदि अभक्ष्य वस्तु उत्तम कुल वालों को ग्रहण करने योग्य ही नहीं, इससे इनके त्याग को व्रत नहीं कहते।

किन्तु जो उत्तम सज्जन पुरुषों के सेवन करने योग्य पंचेन्द्रियों के विषय हैं, जिनके सेवन करने में राज व पंच का दंड नहीं, अपने पदस्थ के विरूद्ध नहीं और वह हमको प्रिय भी है ऐसे योग्य विषयों के त्याग को ही वास्तव में व्रत संज्ञा कहते है, इसके सिवाय अन्य प्रकार के त्याग को व्रत नहीं कहते।

यम और नियम रूप व्रत का स्वरूप

भोग और उपभोग के त्याग में नियम और यम एवं दो प्रकार त्याग का विधान किया गया है, उसमें जो कालकी मर्यादा रूप त्याग है, वह तो नियम है और जो यावज्जीवन त्याग किया है, वह यम है।

नियम की विधि

भोजन, सवारी, शयन, स्थान, पवित्र अंग में सुगन्ध पुष्पादि धारण करना, ताम्बूल, वस्त्र, आभूषण–नृत्यादि सहित संगीत और सामान्य गीत–इत्यादि विषयों में एक घड़ी, प्रहर, दिन, रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु, (दो मास), (अयन छः मास) और वर्ष इस प्रकार काल के विभाग से जो मर्यादा रूप त्याग करना है उसे नियम कहते हैं।

भोगोपभोग के अतीचार

विषयरूपी विष में आदर करना, पूर्वकाल के भोगे हुए विषयों का स्मरण रखना, वर्तमान के विषयों के भोगने में अत्यन्त लालसा रखना, भविष्य में विषयों की प्राप्ति की अतिशय तृष्णा रखना, और विषय नहीं भोगते हुए भी विषय भोगता हूँ ऐसा अनुभव करना, ये भोगोपभोग परिमाण नामक गुणव्रत के पांच अतिचार, श्री गणधर देव ने प्रतिपादन किये हैं।

चार शिक्षाव्रतों का स्वरूप

देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोवास और वैयावृत्य ये चार शिक्षाव्रत हैं अब इनका भिन्न भिन्न स्वरूप वर्णन करता हूँ:-

देशावकाशिक शिक्षाव्रत

जो दिग्व्रत में परिमाण किये हुए विशाल देश का काल के विभाग से प्रतिदिन त्याग करना। जैसे प्रथम दिग्व्रत में दक्षिण दिशा का आसमुद्र परिमाण किया था उसमें से कर्णाटक देश तथा महाराष्ट्र देश का तथा उससे भी न्यून नगरादिक का प्रतिदिन प्रमाण करना उसे देशावकाशिक शिक्षाव्रत कहते हैं।

देशावकाशिक व्रत के काल की मर्यादा

गणधरादि ज्ञानी पुरुषों ने देशावकाशिक व्रत की एक वर्ष, छः मास, दो मास, एक मास, पक्ष और नक्षत्र पर्यन्त कालकी मर्यादा वर्णन की है।

इस देशावकाशिक व्रत में भी सीमाओं के परे स्थूल सूक्ष्म रूप पांचों पापों का भले प्रकार त्याग होने से इस व्रत के व्रती द्वारा भी महाव्रत साधे जाते हैं।

देशावकाशिक शिक्षाव्रत के अतीचार

मर्य्यादा के बाहर किसी को भेजना, किसी प्रकार का शब्द करना, मर्य्यादा के बाहर से वस्तु मंगाना, अपना रूप दिखाकर समस्या (इशारा) करना और कंकर, पत्थर आदि फेंकना ये देशावकाशिक शिक्षाव्रत के पांच अतीचार हैं।

सामायिक शिक्षाव्रत

मन वचन और काय, तथा कृत, कारित और अनुमोदना से मर्यादा और मर्यादा के बाहर भी किसी नियत समय पर्यंत पांचों पापों का त्याग करना, उसे सामायिक शिक्षाव्रत कहते हैं।

सामायिक की विधि

सामायिक के समय चोटी के बालों को बांधना, मूठी, व वस्त्र बाँधना, पल्यंकासन (पालथी) तथा कायोत्सर्ग धारण करना, तथा अन्तरंग से राग द्वेषादि का त्याग करना।

सामायिक के योग्य स्थान

सर्व प्रकार के उपद्रवों से रहित अर्थात्, शीत, वात, दंशमशक आदि बाधा से रहित, एकान्त जहां स्त्री, पुरुष, नपुंसक, बालवृद्ध, जवान और पशु आदिका आवागमन न हो, निर्जन वन पर्वतकी शिखर तथा गुफा, जिनगृह, धर्मशाला, श्मशान भूमि और जिन चैत्यालय आदि निर्जीव भूमि में प्रसन्न चित्त से सामायिक करें।

इसके सिवाय कायादि चेष्टा और मनोव्यग्रता से निवृत्ति होने पर मन के विकल्पों को विशेष निवृत्ति करके प्रतिदिन अथवा उपवास और एकासन के दिन उपर्युक्त विधि से सामायिक करे।

उपर्युक्त विधि के अनुसार, किया हुआ सामायिक, पंच महाव्रतों के परिपूर्ण करने का कारण है, इस कारण प्रति दिवस आलस्य रहित एकाग्र चित्त से यथानियम सामायिक करना योग्य है।

इसी सामायिक में आरम्भ सहित सर्व प्रकार के परिग्रहों के न होने से, उस समय गृहस्थ को उपसर्गपूर्वक वस्त्रादिकों सहित मुनिपना हो जाता है।

सामायिक करते समय, मौनधारी, अचलयोग से तिष्ठा हुआ श्रावक को शीत, उष्ण, डांस, मच्छर दुष्टों के कुवचन आदि उपसर्गों का भी सहन करना योग है।

सामायिक करते समय क्या विचार करना चाहिये

मैं ! यद्यपि अकारण, अनित्य दुःखमयी संसार में वास करता हूँ। परन्तु यह मेरी आत्मा से पृथक् है, और इससे सर्वथा प्रतिकूल मोक्ष है, वह मेरा निज स्वरूप है उसी में संलग्न होना मेरा परम कर्त्तव्य कर्म है।

सामायिक के अतीचार

मन, वचन, और काय की वृत्ति को चलायमान करना, सामायिक में अनादर करना, और सामायिक का समय और पाठ भूल जाना, ये सामायिक नामक शिक्षाव्रत के पांच अतीचार हैं।

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत

अष्टमी और चतुर्दशी के दिवस सर्वकाल पर्यंत व्रत के विधान की वांछाओं से चार प्रकार के आहार का त्याग करना तथा धर्मध्यानपूर्वक रहना, उसे प्रोषधोपवास नामक शिक्षाव्रत कहते हैं।

प्रोषधोपवास के दिवस क्या त्याग करना चाहिये

उपवास के दिवस–हिंसादि पंच पापों का, श्रृंगार, आरम्भ, गन्ध, पुष्प, तथा रागादिक की वृद्धि के कारण गीत नृत्यादि, स्नान, अंजन, नस्य (सूँघने योग्य वस्तु) का भी त्याग करना योग्य है।

उपवास के दिन का कर्त्तव्य

उपवास का धारक निरालसी होकर अतिशय उत्कंठित होता हुआ, धर्मरूपी अमृत का पान करै तथा अन्य को करावे अथवा ध्यानाध्ययन में तत्पर रहे।

प्रोषध और उपवास का स्वरूप

जो दाल भात आदि अशन, घृत दुग्धादि पीने योग्य पान, मोदकादि खाद्य और रबड़ी आदि लेह्य ये चार प्रकार के आहार का त्याग करना सो उपवास है, तथा जो एकबार भोजन करना है वह एक भुक्ति अर्थात् प्रोषध और जो व्रत धारने के दिवस एक बार भोजन पूर्वक उपवास करके पारना के दिवस एकाशन करना है वह प्रोषधोपवास कहा जाता है।

प्रोषधोपवास के अतीचार

जो बिना देखे शोधे पूजा के उपकरण ग्रहण करना, मल मूत्रादि त्याग करना, सन्थरा बिछाना, उपवास में अनादर करना, और योग्य क्रियाओं को भूल जाना, ये प्रोषधोपवास व्रतके पांच अतीचार हैं।

वैयावृत्य नामक शिक्षाव्रत

जो सम्यक्त्वादि गुणों के भण्डार, गृह रहित तपस्वियों को विधिद्रव्यादि सम्पदा कर धर्म के अर्थ प्रत्युपकार की इच्छा रहित दान करता है वह वैयँावृत्य नामक शिक्षाव्रत कहा जाता है।

इसके सिवाय गुणों में अनुराग धारण कर गुणाधिक्य तथा संयमी मुनियों के खेद दूर करने को पगों का दबाना आदि शुश्रूषा सेवा कर्म आदि जितने प्रकार का उपकार करना है वह समस्त वैयावृत्य में गर्भित है।

तथा श्रद्धा, तुष्टि, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और सतव ये सप्त गुण सहित शुद्ध श्रावक द्वारा कूटने, पीसने, चूल्हा सुलगाने, पानी भरने, और बुहारी देने के आरम्भ रहित मुनि आदि श्रेष्ठ पुरुषों का पड़गाहन, उच्च स्थान, पादोदक, अर्चन, प्रणाम, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, आहारशुद्धि ये नवधा भक्ति पूर्वक आदर सत्कार करना उसे दान कहते हैं।

दान का फल

जैसे स्वच्छ जल रुधिर आदि को धोकर शुद्ध कर देता है उसी प्रकार अतिथियों (मुनियों) को शुद्धान्तःकरण से दिया हुआ दान भी गृह कार्यों से संचित किये हुए पापों को नष्ट कर देता है।

इसके सिवाय तपस्वी मुनियों को नमस्कार करने से उच्च गोत्र, दान देने से उत्तम प्रकार के भोग, उपासना करने से प्रतिष्ठा और भक्ति करने से सुन्दर कीर्ति की प्राप्ति होती है।

सुपात्र को दिया हुआ अल्प दान भी समयांतर में पृथ्वी में प्राप्त हुए बटके बीज की भाँति छाया फलादि विभवरूप मनवांछित फल को देता है अर्थात् सुपात्र को अल्प भी दान देने से स्वर्गादि लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। अर्थात् जैसे बटका अल्प भी बीज उत्तम भूमि में पड़ने से कितने बड़े वृक्ष छाया और असंख्य फलों को फलता है उसी प्रकार सुपात्र के अर्थ अल्प भी दान वृहत्फल का दाता होता है।

दान के भेद

चार ज्ञान के धारक श्री गणधरादि आचार्यों ने आहार, औषधि, ज्ञान के साधन शास्त्र, और अभय तथा धर्मशाला आदि एवं चार प्रकार का दान वर्णन किया है।

श्रीषेण राजा और वृषभसेना नामकी सेठकी पुत्री आहार और औषध दान में, कौंडेश नामक ग्रामकूट शास्त्र दान में और शूकर मुनि की रक्षा करने अर्थात् अभयदान में प्रसिद्ध हुए हैं इन्होंने उपर्युक्त दान के प्रभाव से सुन्दर कीर्ति, उत्तम भोग और शुभ गति की प्राप्ति है।

वैयावृत्य के भेद में ही भगवत् की पूजा भी है।

इच्छित फल के देनेवाले और कामदेव बाणों को भस्म करने वाले देवों के देव अर्हंतदेव के चरणों की पूजा करने से समस्त दुःखों का नाश होकर मनोभिलषित कार्य की सिद्धि होती है, इस कारण आदरपूर्वक प्रतिदिन भी अर्हंत भगवान् की पूजन करनी योग्य है।

वैयावृत्य के अतीचार

दान देनेवाली वस्तु को हरित पत्र से ढकना, हरित पत्र में रखना, अनादर से दान देना, दान की विधि को भूल जाना और ईर्षाबुद्धि से दान देना ये पांच वैयावृत्य नामक शिक्षाव्रत के अतिचार हैं।

श्री मुनि महाराज ने कहा–वत्स ! तुझे श्रावक के द्वादश व्रतों का स्वरूप सुनाया। अब एकादश प्रतिमाओं का स्वरूप प्रतिपादन करता हूँ, उसे एकाग्र चित्त से श्रवण कर। ऐसा करने से तेरा अपूर्व कल्याण होगा।

ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप

श्री मुनि कहने लगे– अहो राजकुमार ! श्री सर्वज्ञ देवने श्रावकों की एकादश कक्षा वर्णन की हैं जिन कक्षाओं (प्रतिमाओं) के धारण करने से पूर्व धारण किये गुणों के साथ–साथ निज गुणों की वृद्धि होती रहती है।

(१) दर्शन प्रतिमाका धारक

जो संसार देह और भोगों से विरक्त होता हुआ, पच्चीस मल दोषों से रहित अतीचार रहित सम्यग्दर्शन हो तथा सत्यार्थ मार्ग के ग्रहण में तत्पर हो और मद्यादि निवृत्तिरूप अष्ट मूलगुणों का धारक हो वह दार्शनिक अर्थात् दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक होता है।

(२) व्रत प्रतिमाका धारक

जो निःशल्य होता हुआ अतीचार रहित पंच अणुव्रत तथा शील सप्तक अर्थात् तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों को धारण करता है वह व्रत प्रतिमा का धारक श्रावक माना जाता है।

(३) सामायिक प्रतिमाका धारक

जो चार आवर्तों के त्रितय अर्थात् एक २ दिशा में तीन २ आवर्त इस प्रकार चारों दिशाओं प्रति बारह आवर्त तथा चार प्रणाम पूर्वक कायोत्सर्ग सहित बाह्याभ्यंतर परिग्रह की चिंता से रहित, खड्गासन तथा पदमासन में से किसी एक आसन सहित मन, वचन, कायकी शुद्धता पूर्वक प्रातःकाल मध्याह्नकाल और सायंकाल एवं तीनों संध्याओं में अभिवन्दन करता है वह सामायिक प्रतिमा का धारक श्रावक होता है।

(४) प्रोषध प्रतिमाका धारक

जो एक मास में चारों पर्वों अर्थात् दो अष्टमी दो चतुशर्दशी के दिनों में अपनी शक्ति को न छिपाकर शुभ ध्यान में तत्पर होता हुआ आदि अन्त में प्रोषधपूर्वक सोलह प्रहरका उपवास धारण करता है वह प्रोषध प्रतिमा का धारक श्रावक होता है।

(५) सचित्त त्याग प्रतिमा का धारक

जो अपक्व अर्थात् अग्नि का बिना पका तथा वृक्ष का विना पका। मूल, फल, शाक, शाखा, गांठ, कंद, पुष्प और बीजका भक्षण नहीं करता वह दयामूर्ति सचित्त त्याग प्रतिमा का धारक है।

(६) रात्रिभुक्ति त्याग प्रतिमा का धारक

जो जीवों की दया में तत्पर होता हुआ रात्रि समय चावल, दाल आदि अन्न, दुग्ध जलादि पान, मोकादि खाद्य और चाटने योग्य रबड़ी आदि लेह्य एवं चार प्रकार के आहार का त्याग करता है वह रात्रिभुक्ति त्याग नामक प्रतिमा का धारक श्रावक होता है।

(७) ब्रह्मचर्य प्रतिमाका धारक

जो मलका बीजभूत, मलको उत्पन्न करनेवाले, मल प्रवाही दुर्गंधियुक्त, और लज्जाजनक अंगको देखकर काम सेवन से सर्वथा विरक्त हो जाता है वह ब्रह्मचर्य प्रतिमा का धारक श्रावक होता है।

(८) आरम्भ त्याग प्रतिमाका धारक

जो जीवदया का पालन, जीव हिंसा के कारण नौकरी, खेती और वाणिज्य आदि व्यापारों के आरम्भ से विरक्त होता है वह आरम्भ त्याग नामक प्रतिमाका धारक श्रावक होता है।

(९) परिग्रह त्याग प्रतिमाका धारक

जो बाह्य दश प्रकारके परिग्रह से ममता को छोड़कर निर्ममत्व दत्त चिन्त होता हुआ मायादि रहित सन्तोष वृत्ति में संलग्न हैं वह परिग्रह त्याग नामक प्रतिमाका धारक श्रावक होता है।

(१०) अनुमति त्याग प्रतिमाका धारक

जिस दया निधि की अनुमति आरम्भ, परिग्रह और लौकिक कार्यों में समान बुद्धि धारण करती है वह अनुमति त्याग प्रतिमाका धारक श्रावक होता है।

(११) उत्कृष्ट श्रावक

जो गृहस्थाश्रम का त्याग कर मुनियों की भाँति तपोवन में जाकर गुरु के निकट व्रत धारण करके तपश्चरण करता हुआ भिक्षा भोजन करता है वह खण्ड वस्त्र का धारक उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है।

इस एकादशमी प्रतिमा के क्षुल्लक और ऐलक ये दो भेद है जिसमें क्षुल्लक तो साढ़े तीन हाथ प्रमाण पिछोड़ी और लंगोटी मात्र परिग्रह रखते हैं, और ऐलक केवल लंगोटी ही रखते हैं। शेष क्रिया दोनों की समान है।

श्री मुनिराज ने और भी कहा–

राजकुमार ! इस उत्कृष्ट श्रावक अर्थात् ऐलक वृत्ति पर्यन्त तो श्रावक ही है, इसके ऊपर मुनिव्रत होता है किन्तु ये ऐलक और क्षुल्लक भी श्री मुनिराज के लघुभ्राता हैं। इस व्रतके धारण करने से मुनिव्रत का पालन करना सहज है इसी कारण, इस समय तुझे क्षुल्लक व्रतके धारने की प्रेरणा करता हूँ।

वत्स ! सबसे प्रथम इस बात का विचार करना चाहिये, कि इस जीवका पाप तो शत्रु है, और धर्म मित्र है ऐसा विचार करता हुआ, जो शास्त्र को जानता है, वही श्रेष्ठ ज्ञाता होता है।

राजकुमार ! जिस महानुभाव को अपने को निर्दोष ज्ञान दर्शन और चारित्र रूपी रत्नों का पिटारा बनाना हो, उसे तीनों जगत में पति की भांति इच्छा करके धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष एवं पुरुषार्थ रूपी वनिता, स्वयं प्राप्त हो जाती है।

प्रिय अभयरुचि कुमार ! हिंसादान, मृषानंद, चौर्यानंद और परिग्रहानंद ये चार प्रकार के रौद्रध्यान इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग, पीड़ा चिंतवन और निदान बन्ध, ये चार प्रकार के आर्त्तध्यान, इस प्रकार नरक तिर्यंच गति के कारण दोनों ध्यानों का त्यागकर निरंतर धर्मध्यान में तत्पर रहना योग्य है।

मूल प्राकृत

हायवम्मह तावउ कयसम्भावऊ दुग्गइ गमन निवारणिउ।
चिंतह अणुपेक्खउ जगगुरुसिखउ धम्मरुक्खजल सारणि।

संस्कृत छाया

हतमन्मथतायाः कृतसमभाया दुर्गतिगमनविनारिका
चिंततं अनुप्रेक्षा जगत् गुरु शिक्षा धर्मवृक्ष जलासारिण्यः।

भावार्थ- जो कामदेव को नाशने वाली, सम भावकी करनेवाली, दुर्गति के गमन से निवारने वाली, जगत गुरुकी शिक्षा और धर्मरूप वृक्षकी बृद्धि के अर्थ जलकी सारिणी समान है ऐसी बारह अनुप्रेक्षाओं का चिंतवन करना योग्य है।

बारह अनुप्रेक्षाओं का (भावना) स्वरूप

मूल प्राकृत

अद्धुव असरण भणिया संसारामेगण्णमसु इत्तं।
आसव संवरणामा णिज्जर लोयाणुपेहाओ।।
इयजाणिउण भावहु दुल्लह धम्माणु भावणा णिच्चं।
मणवयण कायसुद्धी एदो उद्देसदो भणिया।।

संस्कृत छाया

अध्रुवं अशरणं भणिताः संसारः एकं अन्यत् अशुचित्वम्।
आस्रवः संवर नामा निर्जरा लोकानुप्रेक्षा।।
इति ज्ञात्वा भावयत् दुर्लभ धर्मानुप्रेक्षा नित्यं।
मनो वचन काय शुद्धा एताः उद्देशतः भणिता।।

भावार्थ- भो भव्य जीव हो !ये अनुप्रेक्षा नाममात्र से जिन देवने कही हैं उनको जानकही, मन वचन कायकी शुद्धतापूर्वक, जैसा कि आगे कहेंगे, उस प्रकार उसका चिंतवन करो, वे अध्रुव (अनित्य) १ अशरण २, संसार ३, एकत्व ४, अन्यत्व ५, अशुचित्व ६, आस्रव ७, संवर ८, निर्जरा ९, लोक १०, बोधि दुर्लभ ११, और धर्म ये बारह है।

उपर्युक्त द्वादश भावनाओं का समुच्चय अर्थ इस प्रकार है कि जो अस्थिर है, वह अध्रुव अर्थात अनित्य, जिस में शरण नही वह अशरण, जो सार रहित और जिसमें भ्रम हो वह संसार, जो अकेलापन बतावे वह एकत्व जो सबसे पृथक् हो वह अन्यत्व, जो अशुचित्व है वह अशुचित्व, जिस द्वारा आवे वह आस्रव, जो कर्मो के द्वारको रोके वह संवर, जो उदय अनुदय काल में कर्म क्षय हो वह निर्जरा जो षट् द्रव्यका समुदाय है वह लोक जो अति कठिनता से प्राप्त होय वह बोधि दुर्लभ है। और जो संसार सागर से उद्धार कर मोक्ष स्थान में स्थापन करे वह धर्म, इस इस प्रकार सामान्य अर्थ है।

अध्रुव (अनित्य) अनुप्रेक्षा

मूल प्राकृत

जंकिपिवि उप्पणं तस्स विणासो हवेइ णियमेय।
परिणाम सरुवेण विणय किंपि वि सासयं अस्थि।।

संस्कृत छाया

यत्किमपि उत्पन्नं तस्य विनाशो भवति नियमेन।
परिणामस्वरूपेण अपि न च किं अपि शास्वतं अस्ति।।

भावार्थ-जो कुछ उत्पन्न हुआ है उसका नियम से नाश होता है किन्तु परिणाम स्वरूप कर कुछ भी शाश्वता नही, अर्थात् समस्त वस्तु सामान्य विशेषात्मक है, तहां सामान्य तो द्रव्य रूप और विशेष गुण पर्याय स्वरूप है, सो द्रव्य कर वस्तु नित्य है तथा द्रव्य के आश्रय होनेसे गुण भी नित्य हैं।

किन्तु पर्याय अनित्य है, इसी को परिणाम कहते है, संसारी जीवों के पर्याय बुद्धि हो रही है, सो वे पर्याय के उत्पन्न और विनाश होता देख हर्ष विषाद करते है, उसको नित्य रखना भी चाहते है, परन्तु इसी अज्ञानता से व्याकुल होते है इस कारण उसे इस अनुप्रेक्षा का चिंतवन करना उचित है

इस प्रकार विचार करना कि द्रव्य कर तो शाश्वता आत्म द्रव्य हूँ, और जो उत्पाद विनाश होता है, वह पर्याय का स्वभाव है, इसमें हर्ष विषाद क्यों करना ? क्योंकि जो यह शरीर हैं वह जीव और पुद्गल जनित पर्याय है; धान्यादि है, वे पुदगल् परमाणुओं के स्कन्ध पर्याय है, इनका मिलना विछुरना नियमपूर्वक अवश्य होता है।

इसमें जो स्थिर बुद्धि धारण करता है, सो यही मोह जनित भाव है, इस कारण वस्तु का स्वरूप जानकर हर्ष विषाद रूप नहीं होना।

मूल प्राकृत

जम्मं मरणेन समं संपज्जइ जुब्बणं जरा सहियं।
लच्छी विनास सहिया इय सव्वं भंगुरं मुणह।।

संस्कृत छाया

जन्म मरणेन् समं संपद्यते यौवनं जरासहितं ।
लक्ष्मीः विनाश सहिता इति सर्वं भंगुरं जानीत।।

भावार्थ- जो जन्म है वह मरण सहित है, यौवन है वह जरा(वृद्धत्व) सहित उत्पन्न होता है, और जो यह लक्ष्मी है, वह विनाश सहित है, इस प्रकार सर्व वस्तु को भंगुर (विनाशसहित) ही ज्ञात करो।

जगत में यावन्मात्र अवस्था है, वह समस्त प्रतिपक्षी भाव को लिये हुए है परन्तु यह प्राणी, जन्म होता है, तब उसे स्थिर मानकर हर्ष करता है, जब मरण होता है, तब गया जानकर शोक करता है। इसी प्रकार इष्ट की प्राप्ति में विषाद और अप्राप्ति में हर्ष करता है।

सो यह समस्त मोह (अज्ञान) का माहात्म्य है, इसी कारण ज्ञानी जनों को वस्तु का स्वरूप विचार कर सम भाव रूप रहना ही योग्य है।

श्लोक

लावण्ययौवन मनोहरणीयताद्याः कार्येष्वमी यदिगुणाश्चिरमावसंति।
संतो नात्रतु रमणी रमणीय सारं, संसारमेन मवधारयितुं यतंते ।।१।।

यदि, ये लावण्यता, तरुणता, और मनोहरता आदि गुण, इस शरीर में चिरकाल पर्यन्त निवास करते तो उत्तम पुरुष (तीर्थंकर चक्रवर्त्यादि) इस प्रत्यक्षीभूत कमनीय कामिनियों कर मनोहर मध्य युक्त संसार के त्यागने का कदापि उद्यम न करते।

उत्तम पुरुषों ने जो संसार का त्याग किया है, सो इसी हेतु से कि इस नाशवान संसार में यावन्मात्र वस्तु है वह समस्त विनाशीक है, ऐसा जानकर अहो ज्ञानी जन किसी उत्पाद में हर्ष और विनाश में विषाद कदापि मत करो।

(गजल पंजाबी)

यह रेखता तथा और अनेक धुनियों में होता है।

तन धन युवन कुटुम्ब विभव अनित्य जानिये।
राचौ न जगत जीव, सकल अथिर मानिये ।।टेक।।
जे भोग इंद्रियन के विनाशीक जानिये।
चपला चपल जु क्षिनक में बिलै गई।।
मोहित भये स्थिर जानके ये मूढ़ बखानिये।
रोचा न जगत जीव अथिर मानिये।।१।।
सुर इन्द्र चक्र धर खगेन्द्र सम्पदा गनो।
नाशै है गगन में मेघ जो करते जतन घनो।।
स्वामी अनित्य लखि तजी वैराग्य ठानिये।
रोचो न जगत् जीव सकल अथिर मानिये।।२।।
जे इष्ट वस्तु पाय मूढ़ नित्य मानते ।
इक क्षिन में विघट जाईगी मेला समानते।।
इम जान विरत हूजिये कर्मनको भानिये।
राचौ न जगत जीव सकल अथिर मानिये।।३।।

यह भावना भावो सदा कल्याणकारिणी।
वैराग्य मात भविन को भव सिन्धु तारिनी।।
चिंतो 'हजारी' बार–बार मत भुलानिये।
राचौ न जगत जीव सकल अथिर मानिये।।४।।

अशरण अनुप्रेक्षा

मूल प्राकृत

तत्थ भवे कि शरणं जत्थ सुरिंक्षण दीसये विलओ
हरिहर वंभादीया कालेण कबलिया जत्थ।।

संस्कृत छाया

तत्र भवे किं शरणं यत्र सुरेन्द्राणां दृश्यते विलयः।
हरिहर ब्रह्मादयः कालेन च कवलिताः यत्र।।

भावार्थ- जिस संसार में देवों के इन्द्रों का विनाश देखा जाता है। जहां ब्रह्मा, विष्णु महेश तथा आदि शब्द से तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि पदवीधारक काल के ग्रास बन गए, उस संसार में क्या कहीं भी शरण है अर्थात् नहीं है।

भावार्थ-शरण उसे कहते हैं जहां अपनी रक्षा हो सके सो संसार में जिनका शरण विचार किया जाता है वे ही जब काल के ग्रास बन जाते हैं, तो फिर शरण किसका ? अर्थात् इस संसार में किसी का शरण नहीं। जैसे–

मूल प्राकृत

सीहस्स कमे पडिदं सारंगं जहण रक्खदे को वि।
तह मित्तुणाय गहियं जीवं पि ण रक्खदे को वि।।

संस्कृत छाया

सिंहस्य क्रमे पतितं सारंग यथा न रक्षर्ते कः अपि।
तथा मृत्युना च गृहीतं जीवन् अपि न रक्षर्ते कः अपि।।

मूलार्थ- जैसे अरण्य में सिंह के पगतले पड़े हुए हिरण को कोई भी राखने वाला नहीं है उसी प्रकार इस संसार में काल कर ग्रसित प्राणी की रक्षा करने में कोई भी सामर्थ्यवान नहीं है।

मूल प्राकृत

णरु सोक्स समीहइ मरणहो वीहइ देवहं सरणु पइसरइ।
सिज्जहं घरु गच्छइ मन्तुप इच्छइ खयकाल हो णउ उपव्वरइ।।

सस्कृत छाया

नरः सौख्यं समीहति मरणात् विभेति देवतानां शरणं प्रति सरति।
वैद्यानां गृहं गच्छति मंत्रं प्रपच्छति क्षयकाले न उवरति।।

मूलार्थ-यह मनुष्य सुख की इच्छा करता है और मरण से डरता है इस कारण क्षेत्रपालादि देवताओं की शरण को प्राप्त होता है, वैद्यों के घर जाता है, मन्त्र यन्त्रादि पूछता है, परन्तु तो भी क्षय काल से निवृत्त नहीं होता है।

मूल प्राकृत

जइ देवो विय रक्खइ मन्तो तन्तो य खेत्त पालो य।
मिय माणं पि मणुस्सं तो मणुया अक्खया होति ।।

संस्कृत छाया

यदि देवाः अपि च रक्षति मन्त्रः तन्त्रः च क्षेत्रपालः च।
म्रियमाणं अपि मनुष्यं तत् मनुजाः अक्षया भवन्ति।।

मूलार्थ-जो मरण को प्राप्त होते हुए मनुष्य को कोई देव मन्त्र, तन्त्र, और क्षेत्रपाल, उप लक्षण से, लोक जिसको रक्षक मानते हैं, वे सबही, रखनेवाले हो जायें तो, यह मनुष्य अक्षय हो जाय अर्थात् कोई मरे ही नहीं।

भावार्थ- मूढ़लोक निज जीवितव्य के निमित्त, रागी द्वेषी देव अर्थात् पद्मावती, क्षेत्रपाल, ऊत, पितर, सती, शीतला, देवी, दुर्गा,

भवानी, महादेव, मसानी, सेढू, बूढ़ा बाबू, गूंगापीर सैय्यद, ख्वाजापीर, कमालखाँ, जाहरपीर, नगरे, जखईया, लालगुरु, मलामान, कालूखां, कंठीमाता, दशमाबीबी, नूरी शहजादी आदि देवताओं की पूजा करते हैं, तथा अनेक प्रकार के मन्त्र यन्त्र और तन्त्र आदि उपचार करते हैं।

इसके सिवाय और भी अनेक मिथ्यात्व सेवन करते हैं; परन्तु वास्तविक विचार किया जाय तो यही निश्चित होता है कि उपर्युक्त देवताओं में कोई भी ऐसा नहीं जो इस जीव को मरण से बचा सके। यदि कोई भी किसी को मरण से राखने वाला होता तो संसार में कोई मरता ही नहीं।

इससे यही सिद्ध होता है कि जो मरण होता है वह आयु के क्षय होने से होता है, सो आयु का देनेवाला कोई है नहीं। यदि कोई आयु का दाता होता तो वह स्वयं अपनी आयु बढ़ा लेता सो कोई है नहीं।

इस कारण कुदेवादि का पूजन रूप, मिथ्या भाव का त्याग कर निश्चय तो निज स्वभाव का शरण है और व्यवहार में पंच परमेष्ठी का शरण है, सो इसी को ग्रहण करना उचित है।

भजन तथा अन्य धुनि में भी होता है।

या जग में जियको शरण मिलो नहीं कोई।
जब कृताँत, अजगर मुख वायो देखत निगल गयोई।।
या जग में जियको शरण मिलो नही कोई।।टेक।।
जो मृगछाँव गृहो हरिने फिर कौन सहायक होई।।
या जग में जियको शरण मिलो नहीं कोई।।१।।टेक।।
इन्द्र धनेन्द्र फनेन्द्र बचे नहीं, जब यम गहत सिरोही।
या जग में जियको शरण मिलो नहीं कोई।।२।।टेक।।
तज परिग्रह वैराग्य धरो चित्त ध्यावौ 'हजारी' वोई।
या जग में जियको शरण मिलो नहीं कोई।।३।।टेक।।

दोहा

वस्तु स्वभाव विचारते शरण आपको आप।
व्यवहारे पण परम गुरु, अवर सकल सन्ताप।।

अथ संसारानुप्रेक्षा

मूल प्राकृत

एक्कं च यदि सरीरं अण्णं गिह्देदि णवणवं जीवो।
पुणु पुणु अण्णं अण्णं गिह्दि मुंचेदि बहुवारं।।
एकं जं संसरणं णाणादेहेसु हवदि जीवस्स।
सो संसारो भणदि मिच्छकसायेहिं जुत्तस्स।।

सस्कृत छाया

एकं त्यजति शरीरं अन्यत् गृहणाति नवं नवं जीवः।
पुनः पुनः अन्यत् गृह्णताति मुंचति बहुवारं।।
एवं यत् संसरणं नानादेहेषु भवति जीवस्य।
सः संसारः भण्यते मिथ्याकषायैः युक्तस्य।।

मूलार्थ- एकान्त वस्तु स्वरूप के श्रद्धान रूप मिथ्यात्व, और क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय, इन युक्त जीव के जो अनेक देहों में संसरण (भ्रमण) होता है, वही संसार है, सो इस प्रकार कि, एक शरीर को छोड़ अन्य शरीर को ग्रहण करे, पुनः ग्रहणकर उसे भी छोड़े, तथा अन्य को ग्रहण करे, पुनः ग्रहणकर उसे भी छोड़े, तथा अन्य को ग्रहण करे, इसी प्रकार बार–बार ग्रहण करे, और छोड़े, वही संसार है।

इस संसार में, संक्षेपतया चार गति हैं, तथा अनेक प्रकार दुःख हैं, तिनमें प्रथम नरक गति के दुःखों को दिखाते हैं।

मूल प्राकृत

पावोदयेण णरए जायदि जीवो सहेदि बहुदुक्खं।
पंचपयारं विविहं अणोवमं अणदुक्खे हिं।।

संस्कृत छाया

पापोदयेन नरके जायते जीवः सहते बहु दुःखं।
पंच प्रकारं विविधं अनुपमं अन्य दुःखैः।।

मूलार्थ- वह जीव पाप के उदय से नरक में पैदा होता है, वहां अनेक भांति तथा पांच प्रकार के उपमा रहित दुःखों को सहन करता है।

भावार्थ-जो जीवों की हिंसा करता है, मिथ्या भाषण करता है, चोरी में तत्पर है, परस्त्री का सेवन करता है, और बहुत आरम्भ तथा परिग्रह में आसक्त रहता है, तथा बहुक्रोधी, प्रचुर मानी, अति कपटी, महा कठोर भाषी, पापी, चुगल, कृपण, देवशास्त्र गुरु का निंदक, अधम, दुर्बुद्धि, कृतघ्नी, शोक और दुःख करने वाला जीव, मरकर नरकों में पड़ता है। वहां छेदन, भेदन, ताडन, मारण और शूलीरोहण, पंच प्रकार तथा अनेक प्रकार के दुःखों को सहता है।

मूल प्राकृत

तत्तो णीसरिऊणं जायदि तिरएसु बहुवियप्पसु।
तत्थ वि पावदि दुःखं गब्भे वि य छेयणादीयं।।

संस्कृत छाया

ततः निःसृत्य जायते तिर्यक्षु बहु विकल्पेषु।
तत्र अपि प्राप्नोति दुःखं गर्भे अपि च वेदनादिकं।।

मूलार्थ- तहां नरकों से निकलकर अनेक भेद रूप तिर्यञ्च योनियों में उत्पन्न होता है। तथा अपि शब्द से सम्मूर्छन होकर छेदनादिक के दुःखों को सहता है।

भावार्थ- यह जीव पूर्वोक्त पापकर्मों के योग से नरक की असह्य वेदना को सहन कर पश्चात् अनेक प्रकार तिर्यञ्च योनिमें उत्पन्न होता है।

वहां निगोद राशि, स्थावर काय, तथा त्रसपर्याय धारण कर जिह्वालम्पटी मनुष्य तथा तिर्यञ्चों का भक्ष्य बनता है अथवा परस्पर एक दूसरे का भक्षण करता शीत, उष्ण, भूख, प्यास, रोग, अति भारारोहण, बध बन्धन आदि दुःखों को भोगता है।

मूल प्राकृत

एवं बहुप्पयारं दुःखं विसहेदि तिरियजोणीसु।
तत्तोणीसरऊणं लद्धि अपुण्णो णरो होइ।।

संस्कृत छाया

एवं बहुप्रकारं दुःखं विसहते तिर्यग्योनिषु।
ततः निःसृत्य लब्धि अपूर्णः नरः भवति।।

मूलार्थ- ऐसे पूर्वोक्त प्रकार तिर्यंच योनियों में यह जीव अनेक प्रकार दुःखों को सहता है पश्चात् वहां से निकलकर लब्धि अपर्याप्त मनुष्य होता है।

मूल प्राकृत

अहगब्भे वि य जायदि तत्थ वि णिवड़ीकयंगपच्चंगो।
विसहदि तिब्बं दुक्खं णिग्गममाणो वि जोणीदो।।

संस्कृत छाया

अथगर्भे अपि च जायते तत्र अपि निवड़ीकृतांगप्रत्यंग।
विसहते तीव्रं दुःखं निर्गममानः अपियोनितः।।

मूलार्थ-तदनन्तर गर्भ में भी उत्पन्न होय तो वहां भी एकत्र संकुचित हस्त पादादि अग तथा अंगुली आदि प्रत्यंग होता हुआ दुःखों को सहन करता है पश्चात् योनि से निकल तीव्र दुःखों में पड़ता है।

मूलप्राकृत

वालोपि पियरचत्तो परउच्छट्ठेन बड्ढते दुहिदो।
एवं जायणसीलो गमेदि कालं महादुक्खं।।

संस्कृत छाया

बालः अपि पितृत्यक्तः परोच्छिष्टेन वर्द्धते दुःखितः।
एवं याचनाशीलः गमयति कालं महादुःखम्।।

भावार्थ- गर्भ से निकल पश्चात् बाल्यावस्थामें ही यदि माता पिता का मरण हो जाय तो अन्य पुरुषों की उच्छिष्ट (जूंठन) से वृद्धिंगत होता याचना–स्वभाव होकर काल व्यतीत करता है।

मूलार्थ

पावेण जणो एसो दुक्कम्मवसेन जायदे सव्वो।
पुनरवि करेदि पावं ण य पुण्णं को वि अज्जेदि।।

संस्कृत छाया

पापेन जनः एषः दुष्कर्मवशेन जायते सर्वः।
पुनः अपि करोति पापं न च पुण्यं कः अपि अर्जयति।।

मूलार्थ- यह जन पापोदय से असाता वेदनीय नीच गोत्र अशुभ नाम और कुत्सित आयु एवं दुष्कर्म के वश से दुःखों को सहता है तो भी पुनः पाप ही करता है किन्तु पूजा, दान, व्रत, तप और ध्यानादि लक्षणयुक्त पुण्य कर्म नहीं करता वह महान् अज्ञान है।

मूल प्राकृत

विरलो अज्जदि पुणं सम्मादिट्ठी वयेहिं संजुत्तो।
उवसमभावे सहियो णिंदण रहाहि संजुत्तो।।

संस्कृत छाया

विरलः अर्जयति पुण्यं सम्यग्दृष्टि व्रतः संयुक्तः।
उपशम भावेन सहितः निंदन गर्हाभ्यां संयुक्तः।।

मूलार्थ- यथार्थ श्रद्धावान् सम्यग्दृष्टि तथा मुनि अथवा श्रावक के व्रतों कर सहित मन्द कषायरूप परिणाम उपशम भाव अपने दोषों में स्वयं पश्चात्ताप करना, निंदा करना अपने दोषों को गुरुजन के निकट

प्रकाशित करना गर्हा एवं पुराण प्रकृति को कोई विरला ही जीव उत्पन्न करता है।

उपर्युक्त पुण्य कर्मों के भी इष्ट वियोगादि दृष्टिगत दुख होते हैं।

मूल प्राकृत

पुण्यजुदस्स वि दीसइ इट्ठविओयं अणिट्ठसंजोय।
भरहो वि साहिमाणो, परिज्जओ लहुयभायेण।।

संस्कृत छाया

पुण्णयुतस्य अपि दृश्यते इष्टवियोगः अनिष्टसंयोगः।
भरतः अपि साभिमानः पराजितः लघुकभ्राता।।

मूलार्थ—पुण्योदय सहित पुरुष के इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग दृष्टिगत होता है, देखो अभिमान सहित भरतचक्रवर्ती भी लघु भ्राता बाहुबली द्वारा पराजित हुए।

भावार्थ—कोई ऐसा जानता होगा कि जिनके विशेष पुण्य का उदय होता है वे सर्वप्रकार से सुखी हैं और उनके किसी प्रकार इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग नहीं होता होगा।

सो ऐसा नहीं क्योंकि देखो भरतचक्रवर्ती सरीखे उत्तम पुरुष भी जबकि लघु भ्राता बाहुबली द्वारा अपमानित हुए तो अन्य पुरुष की क्या कथा है ?

मूल प्राकृत

सयलट्ठविसहजोओ बहुपुण्णस्स वि ण सव्वदोहोदि।
तं पुण्णं पि ण कस्स वि सव्वं जे णिच्छिदं लहदि।।

संस्कृत छाया

सकलार्थ विषयभोगः बहु पुण्यस्य अपि न सर्वत्र भवति।
तत् पुण्यं अपि न कस्य अपि सर्व येन निश्चितं लभते।।

मूलार्थ-इस संसार में समस्त पदार्थ ही भोग्य वस्तु हैं उनका संयोग बड़े पुण्यवानों को सर्वांग रूप से नहीं होता क्योंकि ऐसा पुण्य तो नहीं जिसपर समस्त मनोभिलषित वस्तुकी प्राप्ति हो।

भावार्थ- बड़े पुण्यवानों के भी वांछित वस्तु में किञ्चित् न्यूनता रहती है अर्थात् सर्व मनोरथ किसी के भी पूर्ण नहीं होते तो सर्व सुखी कैसे हो सकते हैं ?

समस्त सामग्री का मिलना अति दुर्लभ है।

मूल प्राकृत

कस्य विणत्थि कलत्तं अहव कलत्तं ण पुत्तसंपत्ती।
अहितेसिं संपत्ती तह वि सरोओ हवे देहो।।

सस्कृत छायां

कस्य अपि नास्ति कलत्रं अथवा कलत्रं न पुत्रसंप्राप्तिः।
अथ तेषां संप्राप्तिः तथापि सरोगः भवेत् देहः।।

मूलार्थ—किसी मनुष्य के तो स्त्री नहीं, किसी के यदि स्त्री भी है तो पुत्र की प्राप्ति नहीं है और किसी के पुत्र की भी प्राप्ति हुई तो शरीर सरोगी है।

मूल प्राकृत

अह नीरोओ देहो तो धणधण्णाण णेय संपत्ति।
अथ धणधणं होदि हु तो मरणं झत्ति ढुक्केइ।।

सस्कृत छाया

अथ नीरोगः देहः तत् धनधान्यानां नैव सप्राप्ति।
अथ धन धान्यं भवति खलु तत् मरणं झगिति ढौकते।।

मूलार्थ—यदि किसी के नीरोग देह भी है तो धन धन्यादि की प्राप्ति नहीं और यदि धन धान्यादि की भी प्राप्ति हो जाय तो शीघ्र ही मरण हो जाता है।

कस्स वि दुइक्कलित्तं कस्स वि दुव्वसणवसणिओं पुत्तो।
कस्स वि अरिसम बन्धू कस्स वि दुहिदा वि दुच्चरिया।।

संस्कृत छाया

कस्यअपि दुष्ट कलत्र कस्य अपि दुर्व्यसन व्यसनिकः पुत्र।
कस्य अपि अरिसम बन्धुः कस्य अरि दुहिता अपि दुश्चरित्रा।।

मूलार्थ—इस मनुष्य भवमें किसी के स्त्री दुराचारिणी है, किसी के द्यूतादि व्यसनों में रत पुत्र है, किसी के शत्रु समान बन्धु हैं और किसी के दुश्चारिणी पुत्री है।

मूल प्राकृत

कस्स वि मरदि सुपुत्तो कस्स वि महिला विणस्सदे इट्ठा।
कस्स वि अग्गिपलित्त गिह कुटुबं च डज्झेइ।।

संस्कृत छाया

कस्य अपि म्रियते सुपुत्रः कस्य अपि वनिता विनश्यते इष्टा।
कस्य अपि अग्निप्रलिप्त गृह कुटुम्ब च दह्यते।।

मूलार्थ—किसी का तो उत्तम पुत्र मर जाता है, किसी की प्रिय स्त्री का विनाश हो जाता है और किसी का गृह कुटुम्ब अग्नि में दग्ध हो जाता है।

मूल प्राकृत

एवं मणुयगदीए णाणादुक्खाइं विसहमाणो वि।
ण वि धम्मे कुणदि मइं आरम्भं णेय परिचइ।।

संस्कृत छाया

एवं मनुजगत्यां नानादुःखानि विसहमानः अपि।
नापि धर्मे करोति मतिं आरम्भं नैव परित्यजति।

मूलार्थ—इस प्रकार पूर्वोक्त मनुष्यपर्याय में अनेक प्रकार दुखों को सहन करता हुआ भी जीव धर्म में बुद्धि नही करता किन्तु पापारंभ करता है।

मूल प्राकृत

सधणो विहोदि णिधणो धणहीणो तह य ईसरो होदि।
राया विहोदि भिच्चो भिच्चो वियहोदि णरणाहो।।

संस्कृत छाया

शत्रुः अपि भवति मित्रं मित्र अपि च जायते तथा शत्रुः।
कर्मविपाकवशात् एषः संसार सरावः।।

मूलार्थ—कर्मोदय के वश से जो शत्रु है वह मित्र हो जाता है और पापोदय से मित्र भी शत्रु हो जाता है, क्योंकि संसार का स्वभाव ही ऐसा है।

भावार्थ—पुण्यकर्म के उदय से शत्रु भी मित्र हो जाता है और पापोदय से मित्र भी शत्रु हो जाता है, क्योंकि संसार में कर्म ही बलवान है।

मूल प्राकृत

अह कहवि हवदि देवो तस्स य जायेदि माणसंदुक्खं।
दट्ठूण महद्धीणं देवाणं रिद्धिसम्पती।।

संस्कृत छाया

अथ कथमपि भवि देवः तस्य मानसं दुक्खं।
दृष्ट्वा महर्द्धनां देवानां ऋद्धि संप्रातिं।।

मूलार्थ—अथवा किसी प्रकार महान् कष्ट से देवपर्याय भी पावे तो महर्द्धिक देवों की ऋद्धि सम्पदा को देखकर मानसिक दुःख उत्पन्न होता है।।

मूल प्राकृत

इट्ट विओगं दुक्खं होदि महद्धीण विसय तण्हादो।
विसयवसादो सुक्खं जेसिं तेसिं कुतो तित्ती।।

संस्कृत छाया

इष्टवियोगं दुःक्खं भवति महर्द्धीनां विषयतृष्णातः।
विषयवशात् सुखं येषां तेषां कुतः तृप्तिः।।

मूलार्थ—महर्द्धिक देवों के भी ऋद्धि और देवाँगनाओं के वियोगरूप इष्टवियोग से दुःख होता है। जिनके विषयों के आधीन सुख है उनको तृप्ति कहां क्योंकि तृष्णा निरन्तर वृद्धिंगत होती ही है। शारीरिक दुःख मानसिक दुःख से प्रबल है।

मूल प्राकृत

सारीरीरिय दुक्खादो माणसदुःखं हवेइ अइपउरे।
माणसदुःखजुदस्स हि विसया वि दहावहा हुंति।।

संस्कृत छाया

शारीरिक दुःखात् मानस दुक्खं भवति अति प्रचुरं।
मानसदुःखयुतस्य हि विषयाः अपि दुःखावहाः भवंति।।

मूलार्थ—कोई जानेगा कि शरीर सम्बन्धी दुःख बड़ा है, और मनका दुःख अल्प है परन्तु शारीरिक दुःख से मानसिक दुःख प्रचुर है क्योंकि मानसिक दुःख सहित पुरूष के अन्य बहुत विषय होते हुए भी दुःखोत्पादक ही दृष्टिगत होते हैं यह सत्य ही है। जिस समय किस भी प्रकार की मानसिक व्यथा होती है उस समय समस्त सामग्री दुःख रूप ही ज्ञात होती है।

मूल प्राकृत

एवं सुट्ठू असारे संसारे दुःख सायरे धीरे।
किं कत्थ वि अत्थि सुहं वियारमाणं सुणिच्चयदों।।

संस्कृत छाया

एवं सुट्ठू असारे संसारे दुःखसागरे घेरे।
किं कुत्र अपि अस्ति सुखं विचार्यमाणं सुनिश्चयतः।।

मूलार्थ—ऐसे पूर्वोक्त प्रकार दुःख–सागर घोर और असार संसार में यदि निश्चय पूर्वक विचार किया जाय तो क्या कहीं भी सुख है ? अर्थात् कहीं नहीं।

भावार्थ—चतुर्गतिरूप संसार में चारों ही गतियां दुःखरूप हैं इस कारण संसार में सुख का लेश भी नहीं।

मूल प्राकृत

इय संसारं जाणिय मोहं सव्वायरेण चइऊण।
तं झायह ससहावं संसरणं जेण णासेइ।।

संस्कृत छाया

इति संसारं ज्ञात्वा मोहं सर्वादरेण त्यक्त्वा।
तं ध्यायति स्वस्वभावं संसरणं येन नश्यति।।

मूलार्थ—इस प्रकार संसार को ज्ञात कर सर्व भांति पुरुषार्थ कर मोह को त्याग निज आत्मा का ध्यान करो जिससे भ्रमणशील संसार का नाश हो जाये।

धुनि गौंड़ की

संसार चतुर्गति दुख निवास,
या माहि कदापि नहिं सुख आस।
भ्रमबुधिकर राचे तेई डूबे जगमाहीं,
संसार चतुर्गति दुःख निवास ।।१।।

दारूण अति नर्क तनों असर्म,
तिथि उदधि जु तेतीस आयु कर्म।
मारू मारू है सदैव साता रचहूं को नाहीं,
संसार चतुर्गति दुख निवास ।।२।।

इक द्वै त्रय चौ पन भेद करण,
इक स्वास अठारह जन्म मरण।
सूक्ष्म वादर विकलतिर जग में लहाहीं,
संसार चतुर्गति दुख निवास ।।३।।
मानुष भव में वह कष्ट भोग,
इष्ट देव को वियोग अनिष्ट संयोग।
जन्म मरण जरा रोगादिक ताई,
संसार चतुर्गति दुःख निवास ।।४।।
मानसीक दुःख देवायु पाइ,
पर विभव देख मूरख बनाय।
मात भूलोरे हजारी विरकत इकठा ही,
संसार चतुर्गति दुख निवास ।।५।।

दोहा-

पंच परावर्तन मयी, दुःख रूप संसार।
मिथ्या कर्म उदें यहै, भरमें जीव अपार।।

अथ एकत्वानुप्रेक्षा

मूल प्राकृत

परिवारेण लच्छिभुंज्जिइ रक्खिजइ महारणे।
धावइ सब्बुकोवि णरणाहो होति दुलय सयं कारणे।।

संस्कृत छाया

परिवारेण लक्ष्मी भेज्यते खिद्यते महारणे।
धावति सवाकं अपि भरत नाथः तंदुल कारणे।।

मूलार्थ—यह जीव अकेला रणसंग्राम में खेद–खिन्न होता है। समस्त लोक एक सेर तंदुलों के अर्थ राजा के आगे दौड़ता है किन्तु लक्ष्मी को सर्व परिवार सहित भोगता है।

मूल प्राकृत

इक्को जीवो जायदि इक्को गब्भम्मि गिहृदे देहं।
इक्को बाल जुवाणो इक्को बुड्ढो जरा गहिओ।।

संस्कृत छाया

एकः जीवा जायते एकः गर्भे गृहाति देहं।
एकः बालः युवा एकः वृद्धः जरागृहीतः।।

मूलार्थ—जो एक जीव उत्पन्न होता है वही एक जीव गर्भ में शरीर को ग्रहण करता है, वही एक बालक होता है, जवान होता है और वही जीव जराग्रसित वृद्धावस्था को प्राप्त होता है अर्थात एक ही जीव अनेक प्रकार पर्यायों को प्राप्त होता हुआ संसार भ्रमण करता है।

मूल प्राकृत

इक्को रोई सोई इक्को तप्पेइ मण से दुक्खे।
इक्को मरदि वराओ णरयदुहं सहदि इक्को वि।।

संस्कृत छाया

एकः रोगी शोकी एकः तप्यति मान से दुःखे।
एकः म्रियते वराकः नकरदुःखं सहति एकः अपि।।

मूलार्थ—एक जही जीव रोगी होता है, वही एक शोकवान् होता है, मानसिक दुखों से तप्त होता है, वही एक जीव मरता है और वही एक रंक होता हुआ नरकों के दुःखों को सहता है अर्थात् एक ही जीव अनेक अवस्थाओं को धारण करता है।

मूल प्राकृत

इक्को संचदि पुण्णं इको भुंजेदि विविहसुरसोक्खं।
इक्को खवेदि कम्मं इक्को वि य पावए मोक्खं।।

संस्कृत छाया

एकः संचिनीति पुण्यं एकः भुनक्ति विविधसुरसौख्यं।
एकः क्षपति कर्म एकः अपि च प्राप्नोति मोक्ष।।

मूलार्थ—एक ही पुण्य का संचय करता है, वही एक जीव देवों के अनेक प्रकार के सुख भोगता है, वही एक जीव कर्मकी निर्जरा करता है और वही जीव मोक्षं को प्राप्त होता है अर्थात् एक ही जीव पुण्य का संचय कर स्वर्ग सुखों का अनुभव करता हुआ मनुष्य पर्याय धारणकर कर्मों का नाशकर मोक्षको प्राप्त होता है।

मूल प्राकृत

सुयणो पिछन्तो वि हू ण दुक्खलेसंपि सक्कदे गहितुं।
एवं जायन्तो वि हु तो वि ममत्तं ण छंडेइ।।

संस्कृत छाया

स्वजनः पश्यन्नपि स्फुटं न दुःखलेशं अपिशक्नोति गृहितुं।
एवं जानन्नपि स्फुटं तदपि ममत्वं न त्यजति।।

मूलार्थ—स्वजन जन भी इस जीव में आते हुए दुःख को देखता हुआ भी किंचित् मात्र ग्रहण करने को समर्थ नहीं होता, ऐसा प्रगट रूप से जानता हुआ भी कुटुम्व से ममत्व नहीं छोड़ता।

भावार्थ—यह जीव अनेक दुःख को आप ही सहन करता है। किंतु कुटुम्बीजन उस दुःख के बांटने में किंचित्मात्र भी समर्थ नहीं होता, ऐसा जानता हुआ भी कुटुम्बीजनों से स्नेह नहीं छोड़ता, उनके अर्थ अनेक प्रकार प्रारम्भ करता है। निश्चय से इस जीव का धर्म ही स्वजन है।

मूल प्राकृत

जीवस्स णिच्छिया दो धम्मो दहलक्खणो हवे सुयणो।
सो णेइ देवलोए सो चिय दुक्खक्खयं कुगइ।।

संस्कृत छाया

जीवस्य निश्चयतः धर्मः दशलक्षणः भवेत् स्वजनः।
सः नयति देवलोके सः एव दुःखक्षयं करोति।।

मूलार्थ—यदि निश्चय से विचार किया जाय तो इस जीव का उत्तम क्षमादि दश लक्षण धर्म ही हितू (स्वजन) है क्योंकि यही धर्म जीव को स्वर्गलोक प्रति प्राप्त कराता है और यही धर्म समस्त दुःखों का नाश रूप मोक्ष कराता है अर्थात् धर्म के सिवाय अन्य कोई भी इस जीव का सहाय नहीं।

मूल प्राकृत

सव्वायरेण जाणह इक्कं जीवं शरीर दो भिण्णं।
जम्हि दु मुणिदे जीवो होइ असेसं खणे हेयं।।

संस्कृत छाया

सर्वादरेण जानीहि एकं जीवं शरीरतः भिन्नं।
यस्मिन् तु ज्ञाते जीवे भवति अशेषं क्षणे हेयं।।

मूलार्थ—अहो भव्य जीव हो! तुम इस जीव को शरीर से सर्व प्रकार भिन्न जानने का उद्यम करो क्योंकि इसके जानने से अवशेष सर्व द्रव्य क्षण मात्र में त्यजने योग्य हो जाती है अर्थात् जब निज स्वरूप का ज्ञान हो जायगा तब समस्त पर द्रव्य (जोकि आत्मा से पृथक् है) सर्वथा हेय ज्ञात होने लगेगी इस कारण सबसे प्रथम निज स्वरूप के जानने का प्रयत्न करना चाहिये।

भजन की धुनि में

अकिला जग आया, जाहि अकेला जीवरा, अकिला जग आया।।
अकिलई भ्रम में चतुर्गति माहीं, संग साथी ना कोई गनो।
सुख दुःख सहे सदैव आप ही, होय सहाय न लोकं घनो।।
जोई तरू बोवे सोई फल चाखे कोई ना काको मीतरा।
अकिला जग आया जाहि अकेला जीवरा ।।१।। टेक।।

जननी, जनक, बन्धु, तिय, सुत धिय कोई नहीं इनमें तेरा।
स्वारथ सबो पगे अपने हित तू करता मेरा मेरा।।
दुःख परे में कोई काम न आवे भोगे एक सदीवरा।
अकिला जग आया जाहि अकेला यह जीवरा ।।२।।
अकिलई कर्मबन्ध को, करतो शुद्ध भाव से निर्जरतो।
धर्म अर्थ पूरूषार्थको, धरि आगम भवोदधिको तरतो।।
अकिलाई भोगी अकिलई भोगी, अकिलई होत सुधीवरा।
अकिला जग आया जाहि, अकेला यह जीवरा ।।३।।
अकिलई जानि तजै जिय ममता, मोह जाल विच काई परो।
विरक्त होई भावना भावो, फेरि न जन मन मरन करो।।
अविचल धारी होउ 'हजारी', जिन वच अमृत पीवरा।
अकिला जग आया जाहि, अकेला यह जीवरा ।।४।।

दोहा

एक जीव परजाय बहु, धारे स्वपर निदान।
पर तजि आपा जानके, करो भव्य कल्याण।।

अन्यत्वानुप्रेक्षा

मूल प्राकृत

अण्णं देहं गिहणदि जणणी अण्णा य होदि कम्मादो।
अण्णं होदि कलत्तं अण्णो वि य जायदे पुत्तो।।

संस्कृत छाया

अन्यं देहं गृह्लाणति जननी अन्या च भवति कर्मतः।
अन्यत् भवति कलत्रं अन्यः अपि च जायते पुत्रः।।

मूलार्थ—यह जीव संसार में जिस शरीर को ग्रहण करता है वह अन्य है, माता भी कर्मयोग से अन्य है, स्त्री है वह अन्य है और प्रगटरूप से पुत्र है वह भी अन्य है।

मूल प्राकृत

एवं बाहिरदब्बं जाणदि रूवा हु अप्पणो भिण्णं।
जाणंतो वि हु जीवो, तत्थेव यरच्चदे मूढः ।।

संस्कृत छाया

ऐवं ब्राहयद्रव्यं जानाति रूपात् स्फुटं आत्मनः भिन्नं।
जानन् अपि स्फुटं जीवः तत्रैव च रज्यति मूढः।।

मूलार्थ—पूर्वोक्त समस्त ब्राहय वस्तुओं को आत्मस्वरूप से यद्यपि भिन्न जानता है तथापि प्रगट रूप से जानता हुआ भी यह मूर्ख जीव उनही पदार्थों में राग करता है सो यह महा मूर्खता है।

मूल प्राकृत

जो जाणिऊण देहं, जीवसरूपादु तच्चदो भिण्णं।
अप्पाणं पि य सेवदि, कज्जकरं तस्य अण्णत्तं।।

संस्कृत छाया

यः ज्ञात्वा देहं जीवस्वरूपात् तत्वतः भिन्नम्।
आत्मानं अपि च सेवते कार्यकरं तस्य अन्यत्तवम्।।

मूलार्थ—जो जीव परमार्थतया निज स्वरूप से भिन्न देह को जान कर अपने स्वरूप का ध्यान करता है उसी के यह अन्यत्व भावना कार्य भूत है अर्थात् जो देहादिक पर द्रव्यों को अपनी आत्मा से पृथक् जानकर आत्म ध्यान में निमग्न हो जाता है उसी के अन्यत्व भावना सफलीभूत है।

धुनि पीलू

जीवतें लखो पुद्गल जड़, जीव ज्ञान दृग धारी।
धर्म अधर्म आकाशकाल द्रव्य, अन्य सकल चेतनतें किलधर।।
जीव ज्ञान दृगधारी।टेक।।

फर्श गन्ध रस वर्ण आदि बपु, आत्म ते हैं अन्य जगत् कर।
जीव ज्ञान दृगधारी।। टेक।।२।।
मोहादिक परवस्तु समिलचिद, तदपि अन्य खुबुधी नर।
जीव ज्ञान दृगधारी ।।३।।
जीव द्रव्यते अन्य अचेतन, तजह, 'हजारी' भज स्वयं अजवर।
जीव ज्ञान दृगधारी ।।४।।

दोहा

निज आतमतें भिन्न पर, जाने जे नर दक्ष।
निज में रमें बमैं अपर, ते शिव लखैं प्रत्यक्ष।।

अशुचित्वानुप्रेक्षा

मूल प्राकृत

सयलकुहियाण पिंड़ं, किमिकुलकलियं, अउब्बदुग्गंधं।
मलमुत्ताणं देहं जाणेह असुइमयं।।

संस्कृत छाया

सकलकुथितानां पिण्डं कृमिकुलकलितं अतीवदुर्गंधं।
मलमूत्राणां गृहं जानीहि अशुचिमयं।।

मूलार्थ—भो भव्य ! समस्त निंदनीय वस्तुओं का समूह लट आदि अनेक निगोदादि जीवों का घर अत्यंत दुर्गंधमय और मल मूत्रादि का स्थान जो यह शरीर है उसे अपवित्रमयी ही ज्ञात कर शरीर अन्य सुगन्धमय वस्तुओं को भी दुर्गंधमय करता है।

मूल प्राकृत

सुट्ठु पवित्तं दव्वं, सरससुगंध मनोहर जं पि।
देहणिहित्तं जायदि, घिणावणं सुष्ठु दुग्गंधं।।

संस्कृत छाया

सुष्ठु पवित्रं सरस सुगंधं मनोहरं यदपि।
देहनिक्षिप्तं जायते घृणास्पदं सुष्ठु दुर्गंधं।।

मूलार्थ—इस देह से लगाये हुए उत्तम पवित्र सरस सुगन्ध और मनोहारी द्रव्य भी घृणास्पद अत्यन्त दुर्गन्धमय हो जाते हैं

भावार्थ—चन्दन, कर्पूर, कुमकुम और मृगनाभि (कस्तूरी) आदि सुगन्धमय वस्तु जब तक शरीर से स्पर्श नहीं करते तब ही तक पवित्र और सुगन्धमय हैं और जब शरीर से लग जाते हैं उस समय सर्व अपवित्र हो जाते हैं। चन्दन, कर्पूरादि तो शरीर के स्पर्श से तथा वस्त्राभूषणादि शरीर में धारण करने से और रसयुक्त भोजन भक्षण करने से मलादि रूप परिणमन हो जाते हैं।

मूल प्राकृत

मणुआणं असुइमयं, विहिणादेहं विणिम्मियं जाण।
तेसिं विरमण कज्जे, ते पुण तत्त्थेव अणुरत्ता।।

संस्कृत छाया

मनुजानां अशुचिमयं विधिनादेहं विनिर्मितं जानीहि।
तेषां विरमणकार्ये ते पुनः तत्र एव अमुरक्ताः।।

मूलार्थ—भो भव्य ! इन मनुष्यों के शरीर को जो विधिना (कर्म) ने अशुचि (अपवित्र) बनाया है सो ऐसी संभावना कर कि मनुष्यों को वैराग्य उत्पन्न होने के अर्थ निर्मित किया है परन्तु यह मनुष्य इस देह में भी अनुरागी हो जाता है इससे विशेष और अज्ञान क्या है ?

मूल प्राकृत

एवं विहं पि देहं, पिच्छंता वि य कुणंति अणुरायं।
संवंति आयरेण य, अलब्धपुब्वत्ति मण्णंता।।

संस्कृत छाया

एवं विधं अपि देहं पश्यंतः अपि च कुर्वंति अनुरागं।
सेवंते आदरेण च अलब्धपूर्वं इति मन्यमानः।।

मूलार्थ–ऐसे पूर्वोक्त प्रकार अशुचि शरीर को देखता हुआ भी यह मनुष्य अनुराग करता है और कभी इसे प्राप्त ही नहीं हुआ ऐसा मानता हुआ आदर पूर्वक शरीर की सेवा करता है। सो यह भी अज्ञान का ही माहात्म्य है। इस देह से विरक्त होने से ही अशुचि भावना होती है।

मूल प्राकृत

जो परदेहविरत्तो णियदेहे, ण य करेदि अणुरायं।
अप्पसरूवसुरत्तो, असुइत्ते भावणा तस्स।।

संस्कृत छाया

यः परदेहे विरक्तः निजदेहे न च करोति अनुरागं।
अत्मस्वरूपसुरक्तः अशुचित्वे भावना तस्य।।

मूलार्थ-जो पुरूष स्त्री पुत्रादि परदेह में विरक्त होता हुआ निज शरीर में भी अनुराग नहीं करता उसी महापुरूष के अशुचि भावना सार्थक होती है।

भावार्थ -केवल विचार मात्र से ही भावना की प्राधानता नहीं होती, किन्तु देह को अशुचि विचारते हुए यदि शरीर से वैराग्य प्रगट हो जाय तो उसी की अशुचि भावना सत्यार्थ है।

झंझोटी (भजन की धुनि में)

नेह तजो बुध! हेय देहसों, अशुचि मलीन महाघिणकारी। टेक।
मलि मलि धोवत सलिल सुगंधन, मंजन, अंजन चंदन, गारी,
दशम द्वार हर वार स्रवे मल, छिन्न कीच घट भीति नुनारी।
नेह तजो बुध! हेय देहसों, अशुचि मलीन महाघिणकारी ।।१।।

चर्म अस्थि रज रूधिर भीर नित पोषत रोकत शोखत न्यारी,
होत न भीत संगीत कुटिल तिय, नीति तजो परतीत बिगाड़ी।
नेह तजो बुध! हेय देहसों, अशुचि मलीन महाघिणकारी ।।२।।
निंद्य जिती दुर्गध वस्तु, जगतावन की उपजावन हारी,
पूरन गलन जरा रोग न रहे, केत नदी तट रेत अटारी।
नेह तजो बुध! हेय देहसों, अशुचि मलीन महाघिणकारी ।।३।।
मात तात तिय पुत्र मित्र गनि नाते बहुत जनावन हारी,
अथिर अनित्य मृत्यु संग डोले ओस की माल काल तरकारी।
नेह तजो बुध! हेय देहसों, अशुचि मलीन महाघिणकारी ।।४।।
जानि विश्वास करो न परोवश, राचि रहेते भये संसारी,
सन्त निहार करो परिहार, पुकार पुकार कहें जु 'हजारी'।
नेह तजो बुध! हेय देहसों, अशुचि मलीन महाघिणकारी ।।५।।

दोहा

स्वपर देह को अशुचि लखि, तजै तासु अनुराग।
ताके सांची भावना, सो कहिये बड़ भाग।।

आस्त्रवानुप्रेक्षा

मूल प्राकृत

मणवयणकायजोया, जीवपयेसाणफन्दणविसेसा।
मोहोदएण जुत्ता, विजुदा विय आसवा होंति ।।

संस्कृत छाया

मन वचन काय योगाः जीव प्रदेशानाम् स्पंदनविशेषाः।
मोहोदयेन युक्त्ताः वियुताः अपि च आस्रवाः भवंति।।

मूलार्थ—मन वचन और काय योग हैं वे ही आस्रव हैं। वे योग जीव के प्रदेशों का चंचलत्व विशेष हैं! तथा मोह के उदय से अर्थात् मिथ्यात्व और कषाय सहित हैं तथा मोह के उदय से रहित भी हैं।

भावार्थ—मन वचन और कायका निमित्त पाकर जीव के प्रदेशों का जो चलाचल होना वही योग है और वही आस्रव है, वे गुणस्थान की परिपाटी में सूक्ष्मसांपराय नामक दशम गुणस्थान पर्यंत मोह के उदयरूप यथासम्भव मिथ्यात्व और कषाय सहित जो होता है, वह सांपरायिक आस्रव है।

और जो दशम गुणस्थान पर्यत जो आस्रव होता है, वह मोह के उदय से रहित है, केवल योग द्वार ही होता है, उसे ईर्यापथ आस्रव कहते हैं। जो पुद्गल वर्गणा कर्मत्वरूप परिणमे उसे द्रव्यास्रव, और जो जीव के प्रदेश चंचल होवें वह भावास्रव है।

मूल प्राकृत

मोहविवागवसादो, जो परिणामा हवंति जीवस्स।
ते आसवा मुणिज्जसु, मिच्छत्ताई अणेयविहा।।

संस्कृत छाया

मोहविभाकवशात् ये परिणामा हवन्ति जीवस्य।
ते आस्रवाः मन्यस्व मिथ्यात्वादयः अनेकविधाः।।

मूलार्थ—भो भव्य ! तू ऐसा ज्ञात कर कि मोह कर्म के उदय से जीव के जो परिणाम होते हैं वे ही आस्रव हैं वे परिणाम, मिथ्यात्व आदि अनेक प्रकार हैं।

भावार्थ—कर्मबन्ध के कारण जो आस्रव हैं वे मिथ्यात्व, उनमें स्थिति अनुभाव रूप गन्ध के कारण, मिथ्यात्वादि चार ही हैं, अविरत, प्रमाद, कषाय और योग से पांच प्रकार हैं, वे मोह कर्म के उदय से होते हैं, और योग हैं वे समय मात्र बन्ध के कारण हैं किन्तु स्थिति और अनुभाग बन्ध के कारण नहीं, इस कारण बन्ध के कारण में प्रधानत्व नहीं है।

मूल प्राकृत

एवं जाणंतो वि हु, परिचयणोये वि जो ण परिहरइ।
तस्सासवाणुपिक्खा, सव्वा वि णिरत्थया होदि।।

संस्कृत छाया

एवं जानन् अपि स्फुटं परित्यजनीयान् अपि यः न परिहरति।
तस्य आस्रवानुप्रेक्षा सर्वा अपि निरर्थका भवति।।

मूलार्थ—इस प्रकार प्रगट रूप से जानता हुआ भी जो त्यजने योग्य परिणामों को नहीं छोड़ता है, उसके समस्त आस्रवों का चिंतवन निरर्थक है।

भावार्थ—आस्रवानुप्रेक्षा का चिंतवन कर, प्रथम ही तीव्रकषायों को छोड़े पश्चात् शुद्ध आत्म–स्वरूप का चिंतवन कर, समस्त कषाय भावों से रहित होवे, तब यह चिंतवन करना सफल है, केवल वार्ता करने मात्र से सार्थक नहीं होता।

मूल प्राकृत

एदे मोहजभावा, जो परिवज्जेइ उवसमें लीणो।
हेयमिदि मण्णमाणो, आसव अणुपेहणं तस्स।।

संस्कृत छाया

एतान् मोहजभावान् यः परिवर्जयति उपशमे लीनः।
हेयं इति मन्यमानः आस्रवानुप्रेक्षणं तस्य।।

मूलार्थ—जो पुरूष उपशम परिणामों (वीतराग भावों) में लीन होता हुआ इन मिथ्यात्वादि भावों को हेय अर्थात् त्यागने योग्य जानता हुआ इन पूर्वोक्त्त मोह के उदय से हुए मिथ्यात्वादि परिणामों को छोड़ता है, उसी के आस्रवानुप्रेक्षा का चिंतवन होता है।

धुनि सारग में दादरा

कर्म आवन के हेत आस्रव के द्वारा रे,
कर्म आवन के हेत आस्रव के द्वारा रे।।
पंच मिथ्यात्व योग पंद्रह भनि।
अविरत गनिये वारारे।।
कर्म आवन के हेत आस्रव के द्वारारे ।।१।।

जानि कषाय पंचविंशति जे, रलवा में संसारा रे।।
कर्म आवन० ।।२।।
इन मारग कर्मत्व वर्गणा, आवें समय अधारारे।।
कर्म आव० ।।३।।
तजिये ये सत्तावन परलखि, भजो 'हजारी' सारारे ।।
कर्म आव० ।।४।।

दोहा

आस्रव पंच प्रकार कूं, चितवै तजै विकार।
ते पावे निज रूपकूं, यहै भावना सार।।

संवरानुप्रेक्षा

मूल प्राकृत

सम्मत्तं देसवयं महव्वयं, तह जओ कषायाणं।
एदे संवरणामा, जोगाभावो तहच्चेव।।

संस्कृत छाया

सम्यक्वं देशव्रतं महाव्रतं तथा जय कषायाणाम्।
एते संवर नामानः योगाभावः तथा च एव।।

मूलार्थ—सम्यक्त्व देशव्रत महाव्रत तथा कषायों का जीतना और योगों का अभाव, ये संवर के नाम हैं।

भावार्थ—पूर्व में मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय और योग एवं पांच प्रकार आस्रव का वर्णन किया था उनका कर्म पूर्वक रोकना यही आस्रव है। अर्थात् चतुर्थ गुणस्थान में मिथ्यात्वका अभाव हुआ, वहां मिथ्यात्व का संवर हुआ तथा देशव्रत गुणस्थान में अविरति का एक –देश अभाव हुआ और प्रमत्त गुणस्थाान में सर्वदेश अभाव हुआ, वहां अविरिति का संवर हुआ।

और अप्रमत्त गुणस्थान में प्रमाद का अभाव होने से प्रमाद का संवर हुआ, सूक्ष्मसांपराय नामक गुणस्थान में समस्त कषायों का अभाव हुआ, वहां कषाय का संवर हुआ और अयोगीजिन नामक चौदहवें गुणस्थान में योग का अभाव हुआ अतः योग का संवर हुआ। इस भांति पांच प्रकार के आस्रवका संवर हुआ।

मूल प्राकृत

एदे संवरहेदुं, वियारमाणो वि जो ण आयरइ।
सो भमइ चिरं कालं, संसारे दुक्खसत्तत्तो।।

संस्कृत छाया

एतान् संसारहेतून् विचारयन् अपि यः न आचरति।
सः भ्रमति चिरं कालं संसारे दुःखसन्तप्तः।।

मूलार्थ—जो पुरूष, पूर्वोक्त प्रकार संवर के कारणों को विचारता हुआ भी उसका आचरण नहीं करता, वह दुःखों से सन्तप्त होता हुआ चिरकाल पर्यंत संसार में परिभ्रमण करता है।

मूल प्राकृत

जो पुण विसयविरक्तो, अप्पाणं सव्वदा वि संवरई।
मणहरविषयेहिंतो, तस्स फुडं संवरो होदि।।

संस्कृत छाया

यः पुनः विषयविरक्तः आत्मानं सर्वदा अपि संवृणोति।
मनोहरविषयेभ्यः तस्य स्फुटं संवरो भवति।।

मूलार्थ—जो मुनि इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होता हुआ मनोहर विषयों से आत्मा को निरन्तर संवर रूप करता है उसके निश्चयतया प्रगट रूप से संवर होता है।

भावार्थ—मन और इंद्रियों को विषयों से रोक कर अपने शुद्ध स्वरूप में रमाता है उसी के यथार्थ संवर होता है।

शांति नमस्ते स्वामी इन धुनि में।

संवर भजो सु ज्ञानी संवर भजो०।।

नहीं कर्म बंधाजी जिहिं ध्यावत सुःख

अनन्ता लहि समकितवंताजी।

संवर भजो सु ज्ञानी० ।।१।।

त्रय गुप्ति समिति पंच धारो दश धर्म

सम्हारोजी अनुप्रेक्षाको अनुभवना।

निजकाज विचारोजी, संवर भजो सुज्ञानी ।।२।।

द्वेवीस परीषह जीतो चारित्र ही पालोजी।

तातें न परो भव फंदा हो, परम अनंदाजी,

संवर भजो सु ज्ञानी ।।३।।

मन इंद्रिय विषय निरोधो, नहिं जीव विरोधोजी।

परिग्रह तजि होउ स्वच्छन्दा, शुभ पूरन

चन्दाजी, संवर भजो सु ज्ञानी ।।४।।

मन वच तन भावन भावो जीवन हितकारी।

जो वैराग्य तनी जननी है इमि कहत

'हजारी' जी, संवर भजो सुज्ञानी ।।५।।

दोहा

गुप्ति समिति वृष भावना जयन परीसह कार।

चारित धारे संग तजि, सो मुनि संवर धार।।

अथ निर्जरानुप्रेक्षा

मूल प्राकृत

वारसविहेण तपसा, णियाणरहियस्स णिज्जरा होदि।

वेरग्गभावानदो। निरहंकारस्स णाणिस्स।।

संस्कृत छाया

द्वादशविधेन तपसा निदानरहितस्य निर्जरा भवति।
वैराग्य भावनातः निरहंकारस्य ज्ञानिनः।।

मूलार्थ—जो निदान रहित और अहंकार वर्जित ज्ञानी है उसी के बारह प्रकार तप और वैराग्य भावना से निर्जरा होती है

भावार्थ—जो ज्ञानपूर्वक तपश्चरण करता है उसी के निर्जरा होती है किन्तु अज्ञानसहित विपर्यय तप से हिंसादि पाप के होने से उलटा कर्म का बंध होता है तथा जो तप करता हुआ अहंकार करता है, परको न्यून जाने, कोई पूजादि नहीं करे, उससे क्रोध करै, इससे तो कर्मबंध ही होता है।

किन्तु निरहंकार से निर्जरा होती है और जो तपश्चरण, करता हुआ इसलोक संबंधी तथा परलोक सम्बन्धी ख्याति लाभ, पूजा और इन्द्रियजनित विषयों की बांछा करता है उसके कर्म का बंध अवश्य होता है किन्तु निदान रहित तपश्चरण से ही निर्जरा होती है।

क्योंकि जो संसार देह भोगों से आसक्त होकर तप को तपता है उसका शुद्ध आशय होने से निर्जरा नहीं होती क्योंकि निर्जरा तो वैराग्य भावना से ही होती है।

निर्जरा का स्वरूप

मूल प्राकृत

सव्वेसिं कम्माणं, सत्तिविवाओ हवेइ अणुभाओ।
तदणंतरं तु सडणं, कम्माणं निज्जरा जाणं।।

संस्कृत छाया

सर्वेषां कर्मणां शक्ति विपाकः भवति अनुभागः।
तदनन्तरं तु सटनं कर्मणां निर्जरां जानीहि।।

मूलार्थ—ज्ञानावर्णादि समस्त कर्मों की फल देने की सामर्थ्य का जो विपाक है वही अनुभाग है जो उदय आने के अनन्तर अर्थात् उदय आने के समय से प्रथम ही उसका क्षरण होय उसे निर्जरा ज्ञात करना।

भावार्थ—कर्म उदय आकर खिर जाय अथवा उदयकाल बिना ही जिसका खिरना हो जाय उसे निर्जरा कहते हैं।

मूल प्राकृत

सा पुण दुविहा णेया सकालपत्ता तवेण कयमाणा।
चादुगदीणं पढ़मा, वयजुत्ताणं हवे विदिया।।

संस्कृत छाया

सा पुनः द्विविधा ज्ञेया सकाल प्राप्ता तपसा क्रियामाणा।
चातुर्गतिकानां प्रथमा व्रतयुक्तानां भवेत् द्वितीया।।

मूलार्थ—वह पूर्व कथित निर्जरा स्वकाल प्राप्त (सविपाक) और अकाल में तपश्चरण द्वारा की हुई अविपाक इस तरह दो प्रकार की हैं। जिनमें स्वकाल प्राप्त प्रथम निर्जरा तो चारों ही गति के जीवों के होती है और दूसरी अविपाक निर्जरा तप द्वारा व्रतियों के ही होती है।

भावार्थ—पूर्वोक्त निर्जरा, सविपाक और अविपाक के भेद से दो प्रकार की हैं वहां जो कर्म स्थिति पूर्णकर उदय होय रस देकर खिरै वह सविपाक निर्जरा है।

यह निर्जरा तो समस्त जीवों के होती है और जो तपश्चरण द्वारा स्थिति पूर्ण हुए बिना ही खिर जाय, यह अविपाक निर्जरा है, यह व्रतधारी तपस्वियों के ही होती है।

मूल प्राकृत

तस्य य सहलो जम्मो, तस्स वि पावस्स णिज्जरा होदि।
तस्स वि पुणं वड्ढइ, तस्स य सोक्खं परो होदि।।

संस्कृत छाया

तस्य च सफलं जन्म तस्य अपि पापस्य निर्जरा भवति।
तस्य अपि पुण्यं वर्द्धते तस्य च सौख्यं परं भवति।।

मूलार्थ—जो महा पुरूष पूर्वोक्त प्रकार निर्जरा के कारणों में प्रवर्त्तमान होता है, उसी का जन्म फल सफल है, उसी के पाप की निर्जरा होती है, उसी के पुण्य कर्म का अनुभाग वृद्धिंगत होता है और उसी के उत्कृष्ट सुख की प्राप्ती होती है।

भावार्थ—जो विरक्त–चित्त निर्जरा के कारणों में प्रवर्त्तमान है उसी के पाप का नाश होकर पुण्य की वृद्धि होती है तथा वही महाभाग स्वर्गादिक सुख भोग मोक्ष प्रति गमन करता हैं

दादरा नई धुनि

जे कर्म बंध दुखदाई, तिन करहु निर्जरा भाई। टेक।
निर्जरत कर्म तप बलतें, निर्मल समकित उर धरतें।।
भव फँद कटैं शिव पाई जिन करहु निर्जरा भाई।
जे कर्म बन्ध दुःखदाई तिनि करहु निर्जरा भाई।
द्वादश विध तपहि बखानों, सम्यक्त्व भेद द्वै जानों।
मन, वच, तन धारो जाई, जिन करहु निर्जरा भाई ।।२।।
करि मन्द कषाय जु प्राणी, तजिये ममबुद्धि सुज्ञानी।
मन इन्द्रिय वशहि कराई, जिनि करहु निर्जरा भाई ।।३।।
जब करण विशुद्ध भयोई, निर्जर असंख्य गुण होइ।।
परणति रागादिक जाई, जिनकरहु निर्जरा भाई ।।४।।
हिरदे विच भाव न धारो, परिगेह चतु बीस निवारो।
सुखदेन 'हजारी' गाई, जिन करहु निर्जरा भाई।।
जे कर्म बन्ध दुखदाई, जिन करहु निर्जरा भाई ।।५।।

दोहा

पूरव बांधे कर्म जे, धरे तपोबल पाय।
सो निर्जरा कहाय है।, धारैं ते शिव जाय।।

अथ लोकानुप्रेक्षा

मूल प्राकृत

सव्वायासमणंतं, तस्य य बहुमज्झिसंट्ठियो लोओ।
सो केण वि णेय कओ, ण य धरिओ हरिहरादीहिं।।

संस्कृत छाया

सर्वाकाशमनंतं तस्य च बहुमध्यसंस्थितः लोकः।
सः केन अपिनैव कृतः न च धृतः हरिहरादिभिः।।

मूलार्थ—समस्त आकाश द्रव्य का क्षेत्र अनंत प्रदेशी है, उसके बहु मध्य देश में (बीच में) तिष्ठा हुआ लोक (छः द्रव्य का समुदाय रूप) तिष्ठा हुआ है वह किसी का किया हुआ नहीं तथा हरिहरादिकों कर धारण किया हुआ भी नहीं है।

भावार्थ—अन्य मतावलम्बी ऐसा प्रतिपादन करते हैं कि इस लोक की रचना ब्रह्मा ने की है, नारायण रक्षा करते हैं और शिव (महादेव) संहार करते हैं तथा शेषनाग अथवा कच्छवा निज पीठ पर धारण किये हुए हैं।

और जब इस सृष्टि (लोक) का प्रलय हो जाता है तब सर्व शून्य हो जाता है किन्तु ब्रह्म की सत्तामात्र रह जाती है पश्चात् ब्रह्म की सत्ता से पुनः सृष्टि की उत्पत्ति होती है,

इत्यादि कल्पित कथन करते हैं उसका निषेध इस सूत्र से होता है क्योंकि यह लोक किसी का किया हुआ, किसी कर रक्षित और किसी कर संहारित नहीं होता, जैसा है वैसा ही अनादि निधन अर्थात् आदि अन्तरहित सर्वज्ञ देव ने देखा है।

लोकस्वरूप

मूल प्राकृत

अण्णोण्णपवेसेण य, दव्वाणं अत्थणं भवे लोओ।
सव्वाणं णिच्चत्तो, लोयस्स वि मुणह णिच्चतं।।

संस्कृत छाया

अन्योन्यप्रवेशेन च द्रव्याणां अस्तित्वं भवेत् लोकः
द्रव्याणां नित्यत्वात् लोकस्य अपि जानीहि नित्यत्वम्।।

मूलार्थ—जीवादि षट्द्रव्यों के परस्पर एक क्षेत्रावगाह मिलाय रूप जो अवस्थान् वह लोक है और जो द्रव्य हैं वे नित्य हैं, इसी हेतु से लोक भी नित्य ही है ऐसा ज्ञात करना योग्य है।

भावार्थ—द्रव्यों के समुदाय को ही लोक कहते हैं, सो द्रव्यों की नित्यता से लोक की नित्यता सिद्ध होती है। लोक का आकार विशेष होता है।

मूल प्राकृत

सत्तेक्कु पंच इक्का, मूले मज्झे तहेव वंभन्ते।
लोयंते रज्जओ पुव्वावरदो य वित्थारो।।

संस्कृत छाया

सप्त एक पंच एक—मूले मध्ये तथैव ब्रह्मान्ते।
लोकान्ते रज्जवः पूर्वापरतः च विस्तारः।।

मूलार्थ—लोक की पूर्व और पश्चिम दिशा में मूल में सात राजू विस्तार है तथा मध्य में एक राजू का विस्तार—ऊपर ब्रह्म स्वर्ग के अन्त पर्यंत पांच राजू विस्तार और लोक के अन्त में एक राजू का विस्तार है।

भावार्थ—यह लोक नीचे के पूर्व पश्चिम दिशा में सात राजू चौड़ा वहां से क्रम पूर्वक घटता हुआ मध्य लोक में एक राजू चौड़ा पश्चात् ब्रह्म स्वर्ग पर्यंत वृद्धि होता पांच राजू चौड़ा और अन्त में एक

राजू चौड़ा है, इस प्रकार डेढ़ मृदंग खड़ा करने से जो आकार होता है वही आकार लोक का होता है।

मूल प्राकृत

दक्खिणउत्तरदो पुण, सत्त वि रज्जू हवेदि सव्वत्थ।
उढ्डो चउदशरज्जू, सत्त वि रज्जूघणो लोओ।।

संस्कृत छाया

दक्षिणोत्तरतः पुनः सप्त अपि रज्जवः भवति सर्वत्र।
ऊर्ध्वः चतुर्दशरज्जुः सप्त अपि रज्जुघनः लोकः।।

मूलार्थ—यह लोक उत्तर दक्षिण सर्वत्र सातराजू के विस्तार में है तथा ऊँचा चौदह राजू है, और समस्त लोक सात राजू घन प्रमाण है।

भावार्थ—चौदह राजू की ऊँचाई पर्यंत सर्वत्र सातराजू के विस्तार में है और घनाकार फैलाने से ३४३ राजू प्रमाण होता है।

कवित्त छन्द जैजैवन्ती की ध्वनि में

लोक स्वरूप लखो सुबुधी, संशय तजि होउ सचेत जु प्रानी।
द्रव्यनि को समुदाय जहां, षट् भेद कथंचित् भिन्न बखानी।।
पुरुषाकार लसै जु खरो, राजू चौदह विस्तार बखानी।
ऊर्ध अधो अरु मध्य गनों त्रय, रूप धरैं तिष्ठो निज थानी।।१।।
नर्क निगोद पःताल विखें तहां, क्षेत्र जु राजू सात बखानौ।
मध्य में द्वीप समुद्र घनें गनि, राजू एक तनो परमानों।।
ऊर्ध में स्वर्ग विमान लसै, सर्वारथ सिद्धि तनों षट् जानों।
लोकशिखर श्री सिद्धि विराजत, नमत 'हजारी' तिन चरणानों।।२।।

कुन्डलियां

लोकाकार विचार के, सिद्ध स्वरूप चितारि।
राग विरोध विडारिके, आतम रूप संभारि।।

आतम रूप संवारी, मोक्षपुर बसो सदा ही।
आधि व्याधि जर मरन आदि, दुःख होहूँ न कदा ही।।
श्री गुरु शिक्षा धारि टारि, अभिमान कुशोका।
मनथिर कारण यह विचारि, निज रूप सुलोका।।१।।

बोधदुर्लभानुप्रेक्षा

मूल प्राकृत

जीवो अणंतकालं, वसदू निगोएसु आइपरिहीणो।
तत्तो णीसरिऊणं, पुढवीकायादियो होदि।।

संस्कृत छाया

जीवः अनन्तकालं वसति निगोदेषु आदिपरिहीनः।
ततः निसृत्य पृथ्वीकायादिकः भवति।।

मूलार्थ—यह जीव, अनादि काल से संसार में अनन्तकाल पर्यंत तो निगोद में रहा पश्चात् वहां से निकल कर पृथ्वी कायादि पर्यायों को धारण करता है।

भावार्थ—यह जीव, अनादि काल से अनन्तकाल पर्यंत तो नित्य निगोद में रहा, वहां एक शरीर में अनन्तानन्त जीवों का आहार श्वासोच्छश्वास जीवन मरण समान है, एक श्वास के अठारहवें भाग मात्र आयु है, वहां से निकलकर यदि कदाचित् पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन, और वनस्पति पर्याय को पावै सो यह अत्यन्त दुर्लभ है।

त्रासपर्याय की दुर्लभता

मूल प्राकृत

तत्थ वि असंखकालं, वायरसुहमेसु कुणइ पणियत्तं।
चिंतामणिव्व दुलहं, तसत्तणं लहदि कट्ठेण।।

संस्कृत छाया

तत्र अपि असंख्यकालं बादरसूक्ष्मेसु करोति परिवर्तनं।
चिंतामणिवत् दुर्लभं त्रसत्व लभते कष्टेन।।

मूलार्थ—तहां पृथ्वी कायादि पर्यायों में बादर तथा सूक्ष्म शरीरों में असंख्यात काल पर्यंत भ्रमण करता है,वहाँ से निकलकर त्रसपना पाना अतिकष्टकर चिंतामणि रत्नवत् अति दुर्लभ है।

त्रस पर्याय में भी पंचेन्द्रियपना पाना अति दुर्लभ है

मूल प्राकृत

वियलिंदिएसु जायदि,तत्थवि अत्थेइ पुव्वकोडीओं।
तत्तो णीसरिऊणं, कहमपि पंचिंदिओ होदि।।

संस्कृत छाया

विकलेंद्रियेषु जायते तत्र अपि आस्ते पूर्वकोटयः।
तेभ्यः निःसृत्य कथमपि पंचेंद्रियः भवति।।

मूलार्थ—स्थावर पर्याय से निकलकर यदि त्रस पर्याय धारण करे तहां भी विकलत्रय अर्थात द्वे इन्द्रिय ते इन्द्रिय और चौ इन्द्रिय पावे वहां कोटि पूर्व पर्यंत रहै पश्चात् वहां से निकल पंचेन्द्रियपना महा कष्टकर अति दुर्लभ है।

मूल प्राकृत

सो वि मणेण विहीणो,ण य अप्पाणं परं पि जाणेदि।
अह मणसहिओ होदि हु, तह वि तिरक्खो हवे रुद्दो।।

संस्कृत छाया

सः अपि मनसा विहीनः न च आत्मानं परं अपि जानति।
अथ मनः सहितः भवति स्फुटं तथा अपि तिर्यक् भवेत रौद्रः।।

मूलार्थ—विकलत्रय से निकल यदि पंचेन्द्रिय भी होय तो असैनी(मनरहित) होय वहां आपा पर का भेद नहीं जानता, और यदि

कदाचित् सैनी (मनसहित) पंचेन्द्रिय भी होय तो रौद्र परिणामी घुघू, बिलाव, सर्प, सिंह, मच्छ आदि तिर्यञ्च होय।

क्रूर परिणामी तिर्यंचों का नरक पात होता है

मूल प्राकृत

सो तिव्वसुहलेस्सो,णरये णिवडेइ दुक्खदे भीमे।
तत्थ वि दुक्खं भुंजदि, शरीरं माणसं पउरं।।

संस्कृत छाया

सः तीव्रा शुभ लेश्यो नरके निपतति दुःखदे भी।
तत्र अपि दुःख भुटे शारीरं मानसं प्रचुरं।।

मूलार्थ—वह तीव्र परिणामी तिर्यञ्च, तीव्र अशुभ लेश्या कर भयानक और दुखके देने वाले नरक में पड़ता है वहां भी शारीरिक और मानसिक एंव दोनों प्रकार के प्रचुर दुःखको भोगता है।

नरक से निकल पुन तिर्यंच होकर दुःख सहता है

मूल प्राकृत

तत्तो णीसरिऊणं, पुणरवि तिरिएसु जायदे पावं।
तत्थ वि दुक्खमणँतं,विसहदि जीवो अणेयविहं।।

संस्कृत छाया

ततः निसृत्य पुनरपि तिर्यक् जायते पापम्।
तत्र अपि दुखं अनंतं विसहते जीव अनेकविधं।।

मूलार्थ-उस नरक से निकलकर फिर भी पापरूप तिर्यञ्च योनि में उत्पन्न होता है ,वहां भी अनेक प्रकार अनन्त दुखों को यह जीव सहन करता है।

मनुष्यत्व अत्यन्त दुर्लभ है

मूला प्राकृत

रयणं चउप्पहेपिव ,मणुअत्तं सुट्ठु दुल्लहं लहिय।
मिच्छो हवेइ जीवो,तत्थ वि पावं समज्जेदि ।।

संस्कृत छाया

रत्ने चतुष्पथे इव मनुजत्वं सुष्टुदुर्लभं लब्ध्वा।
म्लेच्छः भवेत् जीवः तत्र अपि पापम् समर्जयति।।

मूलार्थ—तिर्यञ्च योनि से निकलकर चतुष्पथ में पड़े हुए रत्न की भांति मनुष्य पर्याय अति दुर्लभ है,परंतु ऐसी मनुष्य पर्याय में भी म्लेच्छ होकर यह जीव, पापोपार्जन करता है।

भावार्थ—अति कष्ट से यदि मनुष्य पर्याय पाई और वह म्लेच्छ कुल में उत्पन्न हुआ तो मिथ्यादृष्टी अभक्ष्य भक्षियों की संगति से पापोपार्जन में पड़कर असंख्य दुःखों का पात्र बनता है।

मनुष्य पर्याय में भी आर्यक्षेत्र और उत्तम कुल की प्राप्ति अति दुर्लभ है

मूल प्राकृत

इह लहइ अज्जवंतं, तह ण वि पावेइ उत्तमं गोत्तं।
उत्तम कुले वि पत्ते, धणहीणो जायेद जीवो।।

संस्कृत छाया

अथ लभते आर्य्यत्वं तत्र न अपि प्राप्नोति उत्तमं गोत्र।
उत्तम अपि प्राप्ते धनहीनः जायदे जीवः।।

मूलार्थ—यदि मनुष्य पर्याय भी पाये और आर्यक्षेत्र में भी जन्म होवे तोभी उत्तम (ब्राह्मण क्षत्रि वैश्य) कुल में जन्म का होना अति दुर्लभ है और यदि उत्तम कुलकी प्राप्ति हो जाय तो धनहीन होकर वहां किसी

भी प्रकार का सृकृत नहीं कर सकेगा, किंतु पापोपार्जन कर पुनः कुयानियों में भ्रमण करेगा।

मूल प्राकृत

अह धनसहिओ होदि हु, इन्द्रिय परिपुण्णदा तदो दुलहा
अह इंद्रिय संपुण्णो, तह वि सरोओ हवे देहो।।

संस्कृत छाया

अथ धनसहितःभवति स्फुटं इन्द्रियपरिपूर्णता ततः दुर्लभा।
अथ इंद्रियसंपूर्णः तथापिसरोगः भवेत् देहः।।

भावार्थ—और यदि धन सहित होवे भी तो इंन्द्रियों की परिपूर्णता उससे भी दुर्लभ है और यदि इंन्द्रियों की भी पूर्णता हो जाय तो भी रोग सहित शरीर होय ,तहां किसी प्रकार का सुकृत नहीं कर सकेगा।

मूल प्राकृत

अह णीरोओ होदि हु,तह वि ण पावेइ जीवियं सुइरं।
अह चिरकालं जीवति,तो सीलं णेव पावेइ।।

संस्कृत छाया

अथ निरोगः भवति स्फुटं तथापि न प्राप्नोति जीवित सुचिरं।
अथ चिरकालं जीविते तत् शीलं नैव प्राप्नोति।।

मूलार्थ—अथवा कदाचित् नीरोग भी होय तो चिर जीवन (दीर्घायु)की प्राप्ति दुर्लभ है, और यदि चिरकाल पर्यंत जीवित भी रहे तो उत्तम प्रकृति अर्थात् भद्र परिणामी होना दुर्लभ है।

मूल प्राकृत

अह होदि सीलजुत्तो,तह विण पावेइ साहुसंसग्गं।
अह तं पि कहवि पावइ ,सम्मत्तं तह वि अइदुलहं।।

संस्कृत छाया

अथ भवति शीलयुक्तः तथापि न प्राप्नोति साधुसंसर्गम्।
अथ तमपिकथं अपिप्राप्नोति सम्यक्त्वं तथा अपिअतिदुर्लभं।

मूलार्थ—यदि कदाचित् भद्र परिणामी भी होय तो भी साधु पुरूषों की संगति पाना दुर्लभ है और यदि साधु संसर्ग भी मिल जाय तो भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति अत्यन्त ही दुर्लभ है।

मूल प्राकृत

सम्मत्ते विय लद्धे, चारित्तं णेव गिण्हदे जीवो।
अहकह वि तं पि गिण्हदि, तो पालेदुं ण सक्केदि।।

संस्कृत छाया

सम्यक्त्वे अपि च लब्धे चारित्रं नैव गृह्णति जीवः।
अथ कथमपि तत् अपि गृहणाति तत् पालयितुं न शक्नोति।

मूलार्थ—यदि सम्यग्दर्शन भी पावे तो यह जीव चारित्र को ग्रहण नहीं करता और यदि कदाचित् चारित्र को ग्रहण भी कर लेवे तो उसे निर्दोष पालने में असमर्थ होता है।

मूल प्राकृत

रयणत्तये विलद्धे, तिव्वकसायं करेदि जइ जीवो।
तो दुग्गईसु गच्छदि, पणट्ठरयणत्तओ होऊ।।

संस्कृत छाया

रत्नत्रये अपि लब्धे तीव्रकषायं करोति यदि जीवः।
तत् दुर्गतिषु गच्छति प्रणष्टरत्नत्रयः भूत्वा।।

मूलार्थ—यदि यह जीव सम्यग्दर्शन, ज्ञानचारित्र रूप रत्नत्रय को भी प्राप्त हो जावे, परन्तु यदि तीव्र कषाय करे तो उस रत्नत्रय को नष्ट कर पुनः दुर्गति को गमन करता है।

मूल प्राकृत

रयणुव्व जलहिपड़ियं, मणुयत्तं तं पि होइ अइदुलहं।
एवं सुणिच्चइत्ता, मिच्छकसायेय वज्जेह।।

संस्कृत छाया

रत्नं इव जलधि पतितं मनुजत्वं तत् अपि भवति अतिदुर्लभं।
एवं सुनिश्चित्य मिथ्यात्वकषायं त्यजत।।

मूलार्थ—भो भव्य ! समुद्र में पड़े हुए रत्न की भांति यह मनुष्यपना अत्यन्त दुर्लभ है, ऐसा निश्चय कर मिथ्यात्व और कषाय का त्याग करो।

भावार्थ—जैसे अति कष्ट से प्राप्त हुये चिंतामणी रत्न को समुद्र में फेंक देवें, पुनः उसकी प्राय होना अतिदुर्लभ है उसी भांति पूर्वोक्त प्रकार से प्राप्त हुई मनुष्य पर्याप्ति तिस पर भी रत्नत्रय को प्राप्त होकर यदि मिथ्यात्व और कषाय का सेवन करेगा, तो मनुष्य पर्याय अत्यन्त दुर्लभ हो जायेगी, ऐसा निश्चय ज्ञात कर मिथ्यात्व और कषाय को छोड़ दो।

मूल प्राकृत

अहवा देवो होदि हु, तत्थ वि पावेइ कहवि सम्मतं।
सो तवचरणं ण लहदि, देशजमं शीललेसं पि।।

संस्कृत छाया

अथवा देवः

भवति स्फुटं तत्र अपि प्राप्नोति कथमपि सम्यक्त्वं च।
तपश्चरणं न लभते देशयमें शीलेशं अपि।।

मूलार्थ—अथवा मनुष्य पर्याय से शुभ परिणामों कर यदि देव भी हो तो किसी भी प्रकार सम्यग्दर्शन की तो प्राप्ति हो जाय परन्तु वह तपश्चरणर, देशव्रत, शीलव्रत, का लेश भी न पावे।

भावार्थ—देव पर्याय में चतुर्थ गुणस्थान तक ही होता है, इस कारण यदि कदाचित् शुभ परिणामों से देवगति भी पावै तो महान् कष्ट से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तो हो जाय परन्तु सकल चारित्र (मुनिधर्म) और देश चारित्र (श्रावक धर्म) तथा ब्रह्मचर्यकी प्राप्ति कदापि नहीं होवे। क्योंकि देवों में पंचम गुणस्थान का अभाव है, और व्रतादिकी प्राप्ति पंचम गुणस्थान में ही होती है, सो देवों के पंचम गुणस्थान न होने से व्रत शीलादि भी उनके नहीं होते।

मणुअगईए वि तओ, मणुअगईए महव्वयं सयलं।
मणुअगईए झाणं, मणुअगईए वि णिव्वाणं।।

संस्कृत छाया

मनुजगतौ अपि तपः मनुजगतौ महाव्रतं सकलं।
मनुजगतौ ध्यानं मनुजगतौ अपि निर्वाणं।।

मूलार्थ—जो भव्य ! इस मनुष्य गति ही में तपका आचरण, इस मनुष्य गति में ही समस्त महाव्रत, इस मनुष्य गति में ही ध्यान और इस मनुष्य गति में ही निर्वाण की प्राप्ति होती है।

मूल प्राकृत

इय दुलहं मणुयत्तं, लहिऊण जे रमंति विषएसु।
ते लहिय दिव्वरयणं, भूइणिमित्तं पजालंति।।

संस्कृत छाया

अति दुर्लभं मनुजत्वं लब्ध्वा ये रमंति विषयेषु।
ते लब्ध्वा दिव्यरत्नं भूतिनिमित्तं प्रज्वालयंति।।

मूलार्थ -उपरोक्त प्रकार अति दुर्लभ इस मनुष्य पर्याय को प्राप्त होकर जो विषयों में रमण करते हैं वे दिव्य अमूल्य रत्न को प्राप्त कर भस्म (राख) के निमित्त उसे दग्ध करते हैं।

भावार्थ—अति कठिनता से प्राप्त होने योग्य यह मनुष्य पर्याय अमूल्य रत्न तुल्य है। उसे विषयों के निमित्त वृथा खो देना उचित नहीं है।

मूल प्राकृत

इय सव्वदुलहदुलहं दंसण, णाणं तहा चरित्तं च।
मुणिउण य संसारे, महायरं कुणह तिण्हं पि।।

संस्कृत छाया

इति सर्वदुर्लभं दर्शनं ज्ञानं तथा चारित्रं च।
ज्ञात्वा च संसारे महादरं कुरूत त्रयाणां अपि।।

मूलार्थ—ये समस्त उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं जिनमें दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये रत्नत्रय अत्यन्त ही दुर्लभ है ऐसा ज्ञात कर अहो भव्य ! इस संसार में उपरोक्त तीनों रत्नों का आदर करो।

भावार्थ—निगोद से निकलकर पूर्वोक्त प्रकार क्रम पूर्वक ये उत्तरोत्तर दुर्लभ है तहां भी सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र की प्राप्ति अत्यन्त ही दुर्लभ है इनको प्राप्त होकर जीवों को यत्नपूर्वक आदर करना योग्य है।

दादरा कांलगड़

दुर्लभ अति बोध जगत माही है।
जगतमाहीं रे हो जगत माहीरे, दुर्लभ अति बोध जगत माहीरे।।
इक ते द्वै इंद्री अति दुर्लभ, कठिन कठिन कर त्रय पाई रे।
दुर्लभ अति बोध जगत माहींरे।।१।।
चउ तें पंच इंद्री अति दुर्लभ, सेनी हुइवो कठिनाईरे।
दुर्लभ अति बोध जगत माहींरे।।२।।
मष्ट कष्ट मानुष हूवो कुल, नीच मिली नहिं जो गाईरे।
दुर्लभ अति बोध जगत माहींरे ।।३।।
महा खेद उत्तम कुल पायो, ग्रसित रोग तन दुखदाईरे।
दुर्लभ अति बोध जगत माहींरे ।।४।।
औसर पाई न चूको, बुध वृष सेव 'हजारी' सुखदाईरे।
दुर्लभ अति बोध जगत माहींरे ।।५।।

छप्पय

वसि निगोद चिर निकसि, खेद सहि धरनि तरूनि बहु।
पवनबोद जल अगिनिगोद, लहि जरन मरन सहु।।
लट गिंडोल उटकण मकोड़ तन भ्रमर भ्रमण कर।
जल बिलोल पशु तन सुकोल, नभचर सर उरपर।।
फिर नरक पात अति कष्ट सहि, कष्ट कष्ट नरतन महत।
तहं पाय रत्न त्रय चिगत जे, ते दुर्लभ अवसर लहत।।

धर्मानुप्रेक्षा

धर्म के व्याख्याता सर्वज्ञ देव हैं

मूल प्राकृत

जो जाणदि पच्चक्खं , तियालगुणपज्जएहिं संजुत्तं।
लोयालोयं सयलं, सो सब्वण्हू हवे देआरे।।

संस्कृत छाया

यः जानाति प्रत्यक्षं त्रिकाल गुण पर्यायैः संयुक्तं।
लोकालोकं सकलं सः सर्वज्ञः भवेत् देवः ।।

मूलार्थ—जो समस्त लोक और अलोक एवं त्रिकालगोचर समस्त गुण पर्यायों कर संयुक्त प्रत्यक्ष जानता और देखता है वही सर्वज्ञ देव है।

भावार्थ—इस लोक में जीव द्रव्य अनन्तानन्त हैं। उनमें अनन्तानन्त गुणे पुद्गल द्रव्य हैं। एक–एक आकाश, धर्म, और अधर्म द्रव्य हैं असंख्यात कालाणु द्रव्य हैं और लोक से परे अनन्त प्रदेश आकाश द्रव्य हैं वह अलोक है। इन समस्त द्रव्यों के अतीत काल अनंत समयरूप तथा आगामी काल उससे भी अनन्तगुणरूप और वर्तमान

काल एवं समस्त कालों समयवर्ती एक–एक द्रव्य के अनन्त अनन्त पर्याय हैं तिन सर्व द्रव्य और पर्यायों को युगपत् एक समय में प्रत्यक्ष स्पष्ट पृथक् – पृथक् यथावत् जैसे हैं वैसे ही जाने, ऐसा जिसका ज्ञान है वही सर्वज्ञ है, वही देव है, इनके सिवाय अन्य को सर्वज्ञ कहना केवल कथन मात्र ही है।

यहां इस कथन का तात्पर्य यह है कि जो धर्म का स्वरूप कहा जायगा, वह यथार्थ स्वरूप इन्द्रियगोचर नहीं किंतु अतींद्रिय है जिसका फल स्वर्ग और मोक्ष है, वह भी अतीन्द्रिय है।

और सर्वज्ञ बिना अन्य छद्मस्थों का इन्द्रिय जनित ज्ञान परोक्ष है, इस कारण जो अतीन्द्रिय पदार्थ हैं वे इसके ज्ञान गोचर नहीं, इस कारण जो निज अतीन्द्रिय ज्ञानद्वारा समस्त चराचर पदार्थों को देखता जानता है, वह धर्म और धर्म के फल को भी देखेगा जानेगा इसी हेतु से धर्म का स्वरूप सर्वज्ञ कथित वचनों द्वारा ही प्रमाणभूत है।

किन्तु अन्य छद्मस्थ (अल्पज्ञ) कथित प्रमाणभूत नहीं और जो सर्वज्ञ की परम्परा से कहैं, वह भी प्रामाणिक है, इसी कारण धर्म स्वरूप के कथन की आदि में प्रथम सर्वज्ञ का कथन किया है।

सर्वज्ञ न माननेवालों से किंचित् कहते हैं।

मूल प्राकृत

जदि ण हवदि सव्वण्हू तो को जाणदि अदिन्दियं अत्थं।
इंदियणाणं ण मुणदि, थूलं पि असेसपज्जायं ।।

संस्कृत छाया

यदि न भवति सर्वज्ञः तत् कः जानाति अतीन्द्रियं अर्थ।
इन्द्रियज्ञानं न जानाति स्थूलं अपि अशेषपर्यायं।।

मूलार्थ–यदि सर्वज्ञ न होय तो जोकि इन्द्रियगोचर नहीं हैं ऐसे अतीन्द्रिय पदार्थों को कौन जाने ? क्योंकि इन्द्रिय ज्ञान तो स्थूल

पदार्थ जोकि इन्द्रियों से सम्बन्ध रूप वर्तमान होता है उसे ही जानता है, सो भी उसके समस्त पर्यायों को नहीं जान सकता।

भावार्थ -मीमांसक और नास्तिक दोनों मतानुयायी सर्वज्ञ का अभाव मानते हैं, उनका निषेध इस सूत्र से हुआ और यह तो स्पष्ट ही है कि सर्वज्ञ बिना जो अतीन्द्रिय पदार्थ हैं उन्हें कौन जान सकता है ?

इसी प्रकार धर्म और अधर्म का फल भी अतीन्द्रिय है, उसे इन्द्रिय ज्ञानवाला छद्मस्थ कैसे जानेगा ? इस कारण प्रथम सर्वज्ञ को मानकर उनके वचनों के द्वारा धर्म के स्वरूप का निश्चय करो।

धर्म का सामान्य स्वरूप

आद्या जीवदया गृहस्थ शमिनोर्भेदाद् द्विधा च त्रयं।
रत्नानां परमं तथा दशविधोत्कृष्टक्षमादिस्तथा।।
मोहोद्भूतविकल्पजालरहिता वाग्गंगसंगोज्झितः।
शुद्धानन्दमयात्मनः परिणतिर्धर्माख्यया जायते।।१।।

श्री पानंद्याचार्य।

मूलार्थ—सामान्य प्रकार से धर्म दो प्रकार है –एक व्यवहार और दूसरा निश्चय। जिसमें व्यवहार धर्म में प्रथम जीव–दया धर्म है, वही दयागत धर्म गृहस्थ और मुनियों के भेद से दो प्रकार हैं अर्थात् गृहस्थ धर्म में एकदेश दयाका पालन होता है और मुनिधर्म में सर्वदेश दया का प्रतिपालन होता है।

तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन रत्नत्रय रूप तथा उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये दश प्रकार धर्म हैं यह समस्त व्यवहार धर्म है और जो मोह से उत्पन्न हुए विकल्पों के समूहों से रहित, वचन और अंग. से वर्जित ऐसी शुद्ध आनन्दमय आत्मा की परिणति वह निश्चय धर्म हैं

मूल प्राकृत

हिंसारंभोण सुहो, देवणिमित्तं गुरूण कज्जेसु।
हिंसा पावन्ति मदो, दयापहाणो जदो धम्मो।।

संस्कृत छाया

हिंसारंभः न शुभः देवनिमित्तं गुरूणां कार्येषु।
हिंसा पापं इति मतः दयाप्रधानः यतः धर्मः।।

मूलार्थ—देव के निमित्त, तथा गुरूओं के कार्यों में जो हिंसा का आरम्भ है वह शुभ नहीं हैं क्योंकि जो हिंसा है वही पाप माना है, इस कारण दयाप्रधान ही धर्म है।

भावार्थ—अन्य मतावलम्बी, हिंसा में धर्म का स्थापन करते हैं। जिनमें मीमांसक तो यज्ञ में पशुओं का हवन करते हुए उसका शुभफल कहते हैं। बौद्धमतानुयायी—हिंसाकर मांस आदि के आहार को भी शुभ ही कहते हैं।

तथा देवी के भैरों के उपासक बकरा आदि पशुओं का नाश कर, देवी और भैरों को चढ़ाते हैं, और उसका फल भी शुभ ही बतलाते हैं और श्वेतांबरों के अनेक सूत्रों में ऐसा प्रतिपादन किया है कि जो देव शास्त्र गुरू के निमित्त चक्रवर्ती की सेना का भी चूर्ण करना—और जो साधु ऐसा न करैं तो अनंत संसारी होय। कहीं मद्य मांस का आहार भी लिखा गया है इत्यादि सर्व क्रियाओं का निषेध इस गाथा से होता है।

जो देवगुरू शास्त्र के निमित्त हिंसा का आरंभ करता है वह शुभ नहीं है, क्योंकि धर्म है वह दयाप्रधान ही है, इसके सिवाय ऐसा भी जानना कि जो पूजा, प्रतिष्ठा, जिनालय का बनाना, संघ, यात्रा, धर्मशाला बनाना, इत्यादि समस्त कार्य गृहस्थों के हैं उनको मुनिराज न तो आप करें और न दूसरे से करावें, और न उसका अनुमोदन करें। क्योंकि यह कार्य गृहस्थों का है, सो जैसा शास्त्रों में इनका विधान

बतलाया है, उसी प्रकार गृहस्थ करैं और यदि गृहवासी–जैन श्री मुनिराज से इनके विषय में प्रश्न करैं तो श्री मुनिराज भी शास्त्रोक्त विधि के अनुसार उनको उपरोक्त कार्यों के करने रूप उत्तर देवें। ऐसा करने में उस कार्य सम्बन्धी हिंसा दोष तो गृहस्थों को ही लगता है किन्तु उपरोक्त कार्यों में जो जो श्रद्धान भक्ति और धर्म की प्रधानता होय उस सम्बन्धी जो पुण्य उत्पन्न होगा, उसके भागी मुनिराज भी होंगे।

क्योंकि हिंसा, गृहस्थों की है इस कारण हिंसा सम्बन्धी दोष गृहस्थों पर ही है, किन्तु मुनिपर नहीं, और गृहस्थ भी यदि हिंसारूप अभिप्राय करे तो वह अशुभ ही है। यद्यपि पूजा प्रतिष्ठा आदि को यत्नपूर्वक करें तो भी उस कार्य में जो हिंसादि हो वह टल नहीं सकती।

जैन सिद्धांत में भी यह वाक्य कहा है–"सावद्यलेशो बहुपुण्यराशिः" जिस में पाप अल्प होय और पुण्य विशेष होय वह कार्य गृहस्थों को करना योग्य है, सो गृहस्थ भी जिसमें लाभ विशेष होय और नुकसान अल्प होय, ऐसा कार्य अवश्य करें, किंतु यह रीति मुनियों की नहीं इसी हेतु से मुनिराज हिंसा के फल से रहित हैं।

मूल प्राकृत

देव गुरूण निमित्तं, हिंसारम्भै विहोदि जदि धम्मो।
हिंसारहिओ धम्मे, इदि जिण वयंण हवे अलियं।।

संस्कृत छाया

देव गुर्वोः निमित्तं हिंसारम्भः अपि भवति यदि धर्मः।
हिंसारहितः धर्मः इति जिनबचनं भवेत् अलीकं।।

मूलार्थ—देव और गुरूओं के निमित्त हिंसा का आरम्भ ही यदि धर्म माना जावे तो हिंसा रहित धर्म जो भगवान ने वर्णन किया है वह मिथ्या हो जायगा।

जै जै बन्सी की पुरानी धुनि

ऐसी दयारूपी जिन धर्म जीव उद्धार करायो है।
मेरे मन भायो है, सु मेरे मन भायो है ।।टेक।।
श्रावक मुनीश जानी द्रग बोध चरण मानो।
जिनदेव सकल दरसायो है, सु मेरे मन भायो है।।१।।
उत्तम क्षमादि धारो, दश अंग करो समारो।
आगम अनुसार बतायो है, सु मेरे मन भायो है।।२।।
इह भावना को ध्यावे, पंचम गति को पावे।
तिन शीस 'हजारी' पायो है, सु मेरे मन भायो है ।।३।।

दोहा

धर्म करत संसार सुख धर्म करत निर्वान।
धर्म पन्थ साधेन विना, नर तिर्यंच समान।।

क्षुल्लक महाराज द्वारा राजा मारिदत्त आदि का दीक्षा ग्रहण।

श्री अभयरूचिकुमार नामक क्षुल्लक महाराज मारिदत्त नृपति से कहने लगे–राजन् ! श्री सुदुत्ताचार्य ने उपर्युक्त द्वादश अनुप्रेक्षाओं का वर्णन कर फिर मुझसे कहा –

हे वत्स ! मैंने जैसा आचरण बतलाया तू उसी प्रकार कर अर्थात् तू क्षुल्लक –वृत्ति धारण कर क्योंकि मुनि व्रत के धारने को तू असमर्थ हो जायेगा।

राजन् ! मारिदत्त ने उस समय श्री आचार्य की आज्ञा प्रमाण संसार–समुद्र के पार करने के जहाज तुल्य क्षुल्लक व्रत अंगीकार किया अर्थात् अन्य समस्त वस्त्राभरणों का त्याग कर एक शुभ वस्त्र (पिछोड़ी) और लंगोटी मात्र का ग्रहण किया तथा मस्तक के केशों को दूर कर पीछी और कमण्डल को धारण किया। तत्पश्चात् –

मद को विजय कर महाराज यशोमति और रानी कुसुमावली मुनि और आर्यिका के व्रत ग्रहण करते भये पश्चात् सुर और मनुष्यों कर सेवनीक श्री गुरूदेव सुदत्ताचार्य ने रानी कुसुमावली को गणिनी (आर्यिका) के निकट स्थापन किया।

वे श्री सुदत्ताचार्य गुरू जिन्होंने भगवान् सर्वज्ञ देव कथित तपश्चरण के करने में पूर्णतया मन स्थापन किया, तथा जिन्होंने कामदेव रूप मृत्यु का नाश किया वे गुरूवर्य ! निज ध्यान में ऐसे तल्लीन हुए कि ध्यानस्थ समय जिनके प्रस्वेद (पसीना) को निज जिह्वा से सर्पगण, चाटते हैं।

वे मुनिनायक तपस्या के योग से कृश शरीर हैं कि जिनकी अस्थिसंधि स्वयमेव कटकटादि शब्द करते हैं जिनके उत्तम तेजमूर्ति शरीर में समस्त पसुलीं और नशी जाल दृष्टिगत होता है, वे तपोनिधि तपश्चरण करते जगत के जीवों को अभय प्रदान करते हैं।

नृपवर ! वे दिगम्बराचार्य शीतकाल में स्नेह (मोह) अथवा तैल वर्जित किन्तु पाले (बर्फ) के पटलों कर आच्छादित गात्र होते हुए रात्रि समय सरिता तट किंवा सरोवर के तट प्रति ध्यानस्थ होते हैं।

वे दया प्रतिपालक मुनिपुंगव, ग्रीष्म काल में पर्वतों की शिखर तथा मरु भूमि में जहाँ छाया के नाम एक पक्षी भी ऊपर होकर नहीं निकलता किंतु नीचे तो पाषाण की उष्णता, और ऊपर तेज पूर्ण दिवानाथ की उष्णता, तिस पर भी धूलि के पटलों से पूर्ण विकराल पवन गात्र को दग्ध करती थी ऐसे समय में वे गुरुवर्य निज आत्मा के ध्यान में ऐसे तल्लीन हैं कि जिनको किंचित् कष्ट नहीं होता।

हे गुणनिधि ! वर्षा काल में जहाँ सर्व आडम्बर युक्त मेघराज, समस्त धरातल पर अपना राज्य स्थापन करता है अर्थात् एक तरफ मेघ गर्जना करता है, कहीं बिजली चमकती है तिस पर भी झंझावात अपना प्रबल कोप दिखा रही है उस वे मुनिराज वृक्ष के नीचे निज ध्यान में मग्न होते हैं।

वे समदर्शी महामुनि, स्पर्शन इन्द्रिय के आठ प्रकार के विषय में समभाव धारण करते थे, स्वर्ग और मोक्ष के मार्ग को प्रगट दिखाते, माया मिथ्या और निदान इन तीनों शल्यों का निराकरण करते, निज ज्ञान रूप अंकुश से अष्ट मद रूप मदोन्मत्त गजराज को निर्मद करते, किन्तु मान और अपमान में समभाव धारण करते, और शरीर से निष्पृह होते ध्यान में तल्लीन होते हैं।

वे दया के भण्डार, वृक्षों की कोटर, पर्वतों की कंदरा और श्मशान भूमि में निवास करते; रात्रि समय धनुष्य, दण्ड, मृतक और शय्या एवं कठिन आसनों में किंचित् निद्रा लेकर रात्रि व्यतीत करते हैं, तथा दिवस में भी गोदुहासन, वज्रासन, पद्मासन, वीरासन, गज सुंडासन आदि अनेक आसनों से ध्यान में लीन होते हैं।

वे महामुनि, पक्ष मासादि उपवास धारण करते, दीर्घ रोमावली सहित अस्थि पंजर, पूर्णगात्र, निजमन वचन और काय को वश में लाकर आत्मा के ध्यान में ध्यानस्थ होते, तथा प्रस्वेद और रजादिकर लिप्त शरीर धारण करते, मेदिनी (पृथ्वी) वत् क्षमावान् सुमेरु समान धीर, आर्त्त, रौद्र इन दोनों कुध्यानों कर रहित, ममत्व वर्जित हमारे गुरु श्री सुदत्ताचार्य, प्रमाद रहित जीवों की दयायुक्त पृथ्वी पर भ्रमण करते यहां इस नगर के उद्यान में आए हुए हैं, और उन ही यति पति के संग हम भी आये हैं, सो श्री गुरु की आज्ञा प्रमाण गुरु के चरण कमलों की वन्दना कर भिक्षा के अर्थ निकले हुए हैं।

तपश्चरण करते तथा जिन भगवान् का स्मरण करते मार्ग में गमन करते हम दोनों (भाई–बहन) को, शुभाचरण के धारकों को किंकरोंने हाथ में पकड़ कर यहां देवी गृह में प्राप्त किये।

अभयरुचिकुमार क्षुल्लक महाराज मारिदत्त नृपति से और भी कहने लगे–

राजेन्द्र ! आपके किंकरों ने हम दोनों को यहां लाकर आपके सन्मुख उपस्थित किया तत्पश्चात् जब आपने हमारा चरित्र पूछा, तो

हमने अपने कृत कर्म द्वारा संसार का परिभ्रमण रूप समस्त वृतांत आपके कर्णगोचर किया, अब आपको जैसा रुचे वह कीजिये।

ग्रन्थकर्त्ता कहते हैं कि उपरोक्त क्षुल्लक महाराज का समस्त जीवन चरित्र ज्ञात कर मारिदत्त नृप और चण्डीकादेवी इन दोनों ही संसार से उदास चित्त होते संसार से विरक्त होकर प्रथम जो समस्त पशु युगलों को ताप देने का जो कार्य प्रारम्भ किया था उसका निषेध कर धर्म में तत्पर हुए।

उस समय वे दोनों ही प्रतिबोध को प्राप्त होकर निज हृदय में चिंतवन करने लगे–

इस लोक में पवित्र और प्रधान बालक युगल यथार्थ में पूजनीक हैं, किन्तु मस्तकोपरि तिष्टते चूडामणि रत्न के भांति वन्दनीय हैं।

इस प्रकार चिंतवन कर मारिदत्त नृपति, चण्डिका देवी और उसके उपासक भैरवानन्द ने वसाघृतकर आर्द्रित रसवान् मांस–दिगंत व्याप्त रुधिर तथा अस्थि मांस नसा जाल से व्याप्त किंतु मस्तक रहित कबन्ध और उसकी समस्त सामग्री मद्यपात्र आदि (जो कि चण्डिका गृह में बलि प्रदान के अर्थ उपस्थित की गई थी) पृथ्वीतल में क्षेपण कर उस कर्तव्य से विमुक्त हुए।

पश्चात् राजा ने कर्मचारियों को बुलाकर कहा–

हे कर्मचारिन् ! तुम शीघ्र जाकर, उपवन को सुशोभित करो–

कर्मचारिगण-(हाथ जोड़कर) जो आज्ञा महाराज की ! अभी शीघ्र जाकर उपवन को श्रृगरित करते हैं।

इस प्रकार महाराज की आज्ञा शिरोधारण कर समस्त कर्मचारियों ने शीघ्र जाकर, वृक्ष लता फल पुष्पादि से मनोहर वन जिसमें कि रक्त पत्रों से युक्त आम्र की शाखा में अनेक पक्षीगण अपनी मनोहर ध्वनि करते अत्यन्त रमणीक दुष्टिगत होते थे, कहीं खर्जूर ताल और तमाल आदि के वृक्ष, आकाश से वार्ता करते थे।

कहीं जल विमानों में क्रीड़ा करते, हंस तथा चक्रवाक (चकवा) युगल अत्यन्त रमणीक दुष्टिगत होते थे, किसी स्थल में लता मंडपों में तिष्ठती कमनीय कामिनी समूह निज मधुर स्वर से गान करती पथिक जनों के मन को मोहित करते थे।

किसी प्रदेश में सरोवरों में प्रफुल्लित कमलों पर गुंजार करते भ्रमरों के यूथ, अपनी मदोन्मत्तता प्रगट करते थे।

कहीं कहीं महलों की पंक्ति शुभ्ररूप धारण किये अपनी उज्ज्वलता और उच्चता प्रगट करते थे। उसी निर्मल वन में कर्मचारियों ने मुक्ताफलों की जाली तथा रेशमी वस्त्रों मण्डप और रत्न विनिर्मित चन्दोवा आदि से ऐसा सुशोभित किया, मानों दूसरा स्वर्ग विमान ही स्वर्ग की लक्ष्मी को छोड़कर पृथ्वीतल पर आया है।

इत्यादि वन को सुशोभित कर महाराज के निकट जाकर निवेदन किया–

कर्मचारी–(उच्च स्वर से) श्री महाराज की जय हो। आपकी आज्ञानुसार समस्त वन सुशोभायुक्त हो गया।

इस प्रकार कर्मचारियों की वार्त्ता को श्रवण कर चण्डिका देवी जो कि प्रच्छन्न रूप से तिष्ठी हुई थी, प्रकट होकर महाराज मारिदत्त से कहने लगी–

चण्डिका–राजन् ! यद्यपि आपके कर्मचारियों ने उपवन को श्रृगरित किया है तथापि मैं श्री क्षुल्लक महाराज के निवास को तपोवन बनाऊंगी।

महाराज–मातुश्री ! जो आपकी अभिलाषा हो वही कीजिये।

इस प्रकार नृपति की सम्मति पाकर चण्डिका देवी ने अपनी अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति–प्राकाम्य ईशत्व और वशित्व एवं अष्टगुणों द्वारा उस वन को और भी श्रृगरित किया।

पश्चात् श्री अभयरुचिकुमार क्षुल्लक और अभयमति क्षुल्लिका ने राजा मारिदत्त और भैरवानन्द को साथ लेकर महोत्सव पूर्वक तपोवन में ले जाकर उपस्थित किया।

तदनन्तर देवोपनीत सिंहासन पर क्षुल्लक युगल को विराजमान कर आप प्रकट होकर श्री क्षुल्लक महाराज के सम्मुख उपस्थित हो गई।

वह चण्डमारी देवी जो किंचित् काल पूर्व अस्थि, मांस, रुधिर, वसा आदि से सर्वांग व्याप्त थी, मनुष्यों के रून्डों की माला कंठ में धारण किये महा भयावनी मूर्ति थी सो श्री क्षुल्लक महाराज के उपदेश को श्रवण कर अपनी असली सूरत में आकर समस्त हिंसादि कर्म का त्यागकर सौम्यवदन हो गई।

वह चण्डमारी देवी महा वात्सल्यांग धारिणी, प्रसन्न–वदना, सुवर्ण का पात्र निज करकमल में धारण किये सौम्य भावयुक्त, अपने चरणों के अन्ततक कटिमेखला लटकाती, असदृश, लावण्य और सौभाग्यकरि सारभूत लंबमान हारावली के तेजकर मनोहरा, उछलती, स्वच्छ जलपूर्ण भृंगार (झाड़ी) कर शोभायमान करकमला, जिसके पग नूपरों की ध्वनि को श्रवण कर मयूरगण नृत्य करते और उत्तम शब्द करते थे।

वह मनोहरा देवी निज पीनोन्नत कुच, क्षीणकटि, कृश उदर, आदि सर्वांग सुन्दर, देवोपनीत वस्त्राभूषणों से सुसज्जित, जैनमार्ग (दयाधर्म) में लीन होती, हिंसा धर्म को जलांजलि देती किन्तु पूर्व समय में एकत्रित किए हुए जीवों के युगलों पर दयापूर्वक वात्सल्य धारण करती श्री क्षुल्लक महाराज के सन्मुख उपस्थित हुई। पश्चात्–

वह चण्डमारी देवी, नखों की सुन्दर कांतियुक्त गुरु के चरणों में पड़कर अपना शिष्यत्व समर्थन करने लगी पश्चात् जल और कमल युक्त तथा भ्रमरों कर चुंबित अर्घपाद्य कर गुरु के चरणों को नमस्कार करने लगी–

स्वामिन् ! आप केवल कृत्रिम कुर्कुट के मारने से सघन भव बन में भ्रमे, मैंने असंख्य जीवों को निज माया से ग्रसित किया और रुधिर के समुद्र में स्नान किया सो इन पापों से किस प्रकार मुक्त होऊंगी ?

नाथ दयानिधे ! महिष, मेष आदि जीवों का हिंसाजनित पातक जब तक मुझे ग्रसित न करे तब तक आप मेरी रक्षा करें।

हे देव ! पूर्व कृत तीव्र पाप से मुक्त होने के प्रायश्चित्त रूप तीव्र तप का आचरण करूँगी जिससे जीव–बध से उत्पन्न हुई हिंसा का पाप विलय हो सके।

इस प्रकार पाप से कम्पित देवी के विनयपूर्ण वचन सुनकर अभयरुचि कुमार क्षुल्लक महाराज इस प्रकार कहने लगे–

क्षुल्लक–हे देवि ! हे विस्तीर्ण नितंबे ! हे हंसगमने, हे देवकामिनी ! उपपाद शय्या से उत्पन्न हुए सप्त धातु उपधातु रहित शरीर के धारक, वात पित्त और कफ जनित रोगों से विमुक्त सार रूप शब्द और मन के मैथुन सहित तथा काम रहित तथा एक एक हाथ से अनेक धनुष प्रमाण देह के धारक, दस हजार वर्ष से तेंतीस सागर पर्यंत आयु के भोक्ता व्यन्तर देवों के सर्वार्थसिद्धि के अहमिंद्र पर्यत एवं समस्त देवों में तपश्चरण नहीं।

क्योंकि देवों के उत्कृष्ट चार गुणस्थान होते है इससे व्रत पर्यंत रहते है अर्थात् सम्यग्दर्शन तो हो जाता है किन्तु श्रावक के व्रत भी जो कि देशव्रत नामक पंचम गुणस्थान में होते हैं नहीं होते तो मुनिव्रत (जो कि प्रमत्त नामक छठे गुणस्थान में होता है) किस प्रकार हो सकता है ?

हे देवि ! इस चतुर्गति रूप संसार में और भी असंख्य जीव ऐसे हैं कि जो तपश्चरण ग्रहण नहीं कर सकते।

चंडमारी–स्वामिन् यदि उनका कथन मुझे भी श्रवण कराया जावे तो अत्यन्त कृपा होगी।

क्षुल्लक–यदि तू चित्त लगाकर श्रवण करेगी तो मैं अवश्य सुनाऊंगा। अच्छा तू सुन, मैं कहता हूं, इस प्रकार श्री क्षुल्लक महाराज कहने लगे–

पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वनस्पतिकाय, और पवनकाय एवं आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास, इस प्रकार चार प्राण धारक ज्ञान रहित एकेन्द्रिय जीवों के दीक्षा का ग्रहण नहीं है।

हे सुकुन्तले ! उपरोक्त पंचस्थावरों के सिवाय शंख, लट आदि दोइन्द्रिय, पिपीलिका, (चींटी) आदि तेन्द्रिय और भ्रमर आदि चौ इंद्रिय एवं विकलत्रय जीवों के भी दीक्षा ग्रहण नहीं है।

इसी प्रकार असैनी पंचेन्द्री तथा सैनी पंचेन्द्री तिर्यंचों में दीक्षा धारण नहीं होता। हां, इतना अवश्य है कि जो सैनी पंचेन्द्रिय सौम्य स्वभावी तिर्यंच हैं उनके पंचम गुणस्थान होने से श्रावक के व्रत तो हो सकते किंतु मुनिव्रत नहीं हो सकते हैं। मुनिव्रत तो केवल मनुष्य पर्याय में ही होता है।

हे देवि ! मनुष्यों में भी जो परके ठगने में तत्पर, दूसरे की ज्यादा चीज लेना, और अपनी कमती देना, झूठी साक्षी देने वाले पर जीवों के घातने में कठोर परिणामी, मायाचारी, अतिशय क्रोधी, सप्त व्यसन के सेवने वाले, हलवाईगिरी का व्यापार, लोह पीतल का व्यापार, लाख, शक्कर, अनाज (गल्ला), सींक रस्सा आदि के व्यापार करने वालों में भी जिन दीक्षा न हो।

हे सुकोमले ! रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूम्रप्रभा, तमप्रभा और महातमप्रभा, इन नरकों की सातों ही पृथ्वी के नारकियों में तपश्चरण नहीं हो सकता। हां, इतना अवश्य है कि उपर्युक्त नारकियों के सम्यग्दर्शन हो जाता है।

हे शोभने ! तिर्यंचों में भी जो सर्प, गोह, नौला, तथा एक खुरके धारक घोटक (घोड़ा) आदि, फटे खुर के धारक महिष आदि तथा हस्ती आदि स्थलचर और मीन, कछवा, मगर आदि जलचर और गृद्ध, काग, चील, घुग्घू आदि नभचर जीवों के भी जिन दीक्षा नहीं हो सकती।

हां, यदि किसी महात्मा का उपदेश मिल जाय और काल लब्धि निकट आ जाय तो सम्यग्दर्शन तथा श्रावक के व्रत हो सकते हैं।

हे देवकामिनि ! मनुष्यों में भी स्त्री, बालक, वृद्ध, मुनिघातक ग्रामों के दाहने वाले, परस्त्री लंपट, मद्य, मांस, मधु के लंपटी, द्यूतक्रिया में रत, वेश्यासक्त, जैन धर्म के निंदक, चोरकर्मी, शिकारी, निर्दय परिणामी, दूसरों में लड़ाई झगड़ा कराने वाले, दूसरे के धन ऐश्वर्य को देखकर झूरने वाले इत्यादि जितने निर्दय परिणामी हिंसा के व्यापार में संलग्न रहने वाले हैं उनके भी मुनिव्रत नहीं हो सकता। हां, जब वे ही सद्उपदेश से ही पूर्व कर्म का त्याग कर देवें तो अवश्य हो सकता है।

देवि ! यद्यपि समस्त पर्यायों में मनुष्य पर्याय उत्तम है क्योंकि मोक्ष का उपाय इस पर्याय के सिवाय अन्य में नहीं है, परन्तु जो मूर्ख मोक्ष के साधनों से अनभिज्ञ होकर विषय में लम्पटी होते हुए हिंसादिक कर्म में प्रवृत्त होते हें वे अति सौरव नरक में पड़ते हैं।

वहां मानसिक दुःख है ही, परन्तु क्षेत्र जनित और असुर कुमारों द्वारा परस्पर लड़ने भिड़ने से तीसरे नरक पर्यंत अति त्रासित होते हैं।

वे नारकी अत्यन्त परिग्रह के धारने से, नरक की पृथ्वी में विहार करने से, अनन्त दुःखों के भाजन होते हैं और परमाणु के सम्मिलन तथा नेत्र के टिमकार काल भी वहां सुख नहीं है।

नारकों के नारकी परस्पर शस्त्र प्रहार करते, कम्पित शरीर होते, एक दूसरे को खण्ड २ करते हैं तो भी पारेवत् मिल जाते हैं। इसके सिवाय नारकियों का शरीर खड्ग से छेदा जाय, त्रिशूल से भेदा जाय, घानी में पेला जाय तो भी आयु पूर्ण हुए बिना नाश को प्राप्त नहीं होता।

सातों अधो भूमियों में किये हुये अन्तर युक्त चौरासी लाख बिलों के उदर में प्राप्त हुए नारकियों में जिन दीक्षा नहीं। पर

वैरानुबंध के बल से जाने वाले तथा शरीर को विक्रिया से उत्पन्न किये आयुधों से परस्पर युद्ध करने वाले नारकियों में मुनिव्रत नहीं।

नित्य रौद्र परिणामी संहारकर्त्ता सात प्रकार के नारकियों में दिगम्बरी दीक्षा नहीं होती।

हे भद्रे ! इसी प्रकार अनेक सुखों के आस्वादक अमृतभोजी और अनुपम. क्रीड़ा में रत ऐसे देवों में भी दिगम्वरी दीक्षा नहीं होती।

इनके सिवाय कल्पवृक्षों से उत्पन्न हुए अनेक प्रकार के पदार्थों के सेवन से और म्रण कर देव गति में जाने वाले भोगभूमियाँ मनुष्यों में भी तपश्चरण नहीं होता।

तथा जो मिथ्यामति और उनके भक्त कुचारित्री, तापसी भेषी, कुपात्र दान के दाता, विपरीत कर्ण पल्लव समान मुख के धारक, छानवे कुभोग भूमि के मनुष्य तथा आठसौ पचास म्लेच्छ खण्ड के मनुष्यों में भी तपश्चरण नहीं है।

जम्बूद्वीप, धातकी खंड़द्वीप ,और पुष्करार्द्ध और अढ़ाई द्वीप के अन्तिम जीवों में एक सौ सत्तर कर्मभूमियों के मनुष्यों में यद्यपि जिनदीक्षा और मोक्ष का सद्भाव है तथा निम्नलिखित क्रिया बिना मोक्ष के प्राप्ति नहीं है।

जो पुरूष उपरोक्त कर्मभूमियों में उत्पन्न होकर श्री गुरू को नमस्कार कर गर्व और कुटिल भावों के बिना पंचेन्द्रियों जनित सुखको तृण समान गिनता हुआ तपश्चरण करता है वह मुनि पुंगव अनल्प दिनों में ही सम्यग्दर्शन ,ज्ञान चारित्र इन चार आराधनाओं का फल–अविचल केवलज्ञान को प्राप्त हो जाता है।

भो, त्रिदशभामिनि ! देव और नारकियों में सम्यक्त्व हो तो जाता है,किंतु उस भव में तपश्चरण नहीं होता। इसी प्रकार भोगभूमि के मनुष्यों में सम्यग्दर्शन होता है, जिन दीक्षा नहीं होती ,तिर्यंचों में सम्यग्दर्शन. और श्रावक के व्रत भी होते हैं किंतु

तपश्चरण नहीं होता ,और कर्मभूमि के मनुष्यों में समस्त व्रत होते हैं क्योंकि महाव्रत रूप भार के वहने में मनुष्य ही समर्थ है।

इस प्रकार श्री क्षुल्लक जी कथन को श्रवण कर संसार के दुःखों से भयभीत होकर वह चंडिका देवी सम्यग्दर्शन को धारण कर श्री क्षुल्लक महाराज को नमस्कार कर सुमधुर वाणी से श्री गुरू से कहने लगी–

चंडिका–नाथ ! चतुर्गति रूप पाताल गर्तों सहित दुःख कर तरने योग्य और अत्यन्त भयानक घोर ,संसार –समुद्र में पड़ती हुई मुझे आपने हस्तावलम्ब दिया।

स्वामिन् ! आप देवों के देव और जैनसिद्धान्त के रहस्य के पूर्ण ज्ञाता हो इस कारण आप मेरे स्वामी हो और मैं आपके चरणों की दासी हूँ।

हे धर्मवत्सल ! आप से एक प्रार्थना करना चाहती हूं यदि आपकी आज्ञा हो तो निवेदन करूं।

क्षुल्लक–हे देव भामिनि ! जो इच्छा हो वह कह ,तुझे योग्य उत्तर दिया जायेगा।

चंडिका देवी - स्वामिन्! विज्ञप्ति यह है, कि आपने कहा कि देव पर्याय में तपश्चरण नहीं है सो तो ठीक ही है। परंतु यह तो कहिये कि अब मुझे क्या करना चाहिये ? आप कृपाकर शीघ्र मुझे सन्तोषित कीजिये।

क्षुल्लक–(मेघों की विजय करने वाली दुँदुभि समान शब्द उच्चारण करते) शोभने ! जिस पुरूष शरीर में व्रण (घाव) वा गूमडा नहीं होता उस पर मक्षिका नहीं बैठती।

इसी प्रकार जो सर्व वस्तु से निर्ममत्व रखता है वह किसी के दिये हुये को ग्रहण नहीं करता।

इस प्रकार श्री क्षुल्लक महाराज के वचनों को श्रवण कर चण्डिका ने कहा–

चंडिका—हे गुणरत्न भंडार ! आपने यत्किचिंत् संकेत मात्र वर्णन किया वह मैं पूर्णतया समझ गई, आपकी आज्ञानुसार ही करूंगी।

क्षुल्लक—भो देवी ! यदि तू मेरे वचनानुसार परोपकार पूर्वक जीव दया में तत्पर रहेगी और जिन वचनों का श्रद्धान करेगी तथा धर्मात्माओं की रक्षा करेगी तो अवश्यमेव तेरा कल्याण होगा।

इस प्रकार क्षुल्लक महाराज के वचनों से सन्तुष्ट होती हुई चण्डिकादेवी श्री क्षुल्लक महाराज के चरणों को पुनः पुनः नमस्कार कर उनकी आज्ञा को शिरोधारण करती हुई, पश्चात् श्री गुरू, के समक्ष महीपति से कहने लगी –

चंडिका—राजन् ! अभी तक तो जो कुछ हुआ सो हुआ । परन्तु अब आज से किंचित् मात्र भी किसी जीव की हिंसा न करना।

पृथ्वीनाथ ! आज से अपने समस्त राज्य में इस बात की घोषणा कर देना चाहिये कि समस्त प्रजा साम्य भाव धारण कर रौद्र भाव को त्यागे अर्थात् जो पुरूष, स्त्री, बालक और वृद्ध वन में, उपवन में, चौपथ में, जिन गृह में देवी के मंदिर में साक्षात् पशु तथा कृत्रिम पशु की, देवता पितृ इत्यादिकों के निमित्त हिंसा करेगा उसे मैं (देवी) गृह कुटुम्ब सहित क्षय को प्राप्त करूँगी।

इस प्रकार चण्डिका देवी के आदेश पूर्ण वचन सुनकर मारिदत्त नृपति इस प्रकार कहने लगा –

नृपति—मातु श्री ! आपकी आज्ञा से पूर्व ही श्री क्षुल्लक महाराज के उपदेश से मेरा हृदय जीव हिंसा से सकम्प हो गया था, क्योंकि श्री क्षुल्लक महाराज ने यशोधर के भव में कृत्रिम कुर्कुट ही कुल देवी के अर्थ अर्पण किया था, उसी पाप से आपने जो संसार में कष्ट सहन किया उसका चरित्र हृदय विदारक है।

भो चंड़िके ! ऐसा कौन पाषाण–हृदय होगा जो श्री गुरु की भवावली को श्रवण कर जीव हिंसा से भयभीत न हो ? मैने भैरवा

नन्दकी आज्ञानुसार अनेकशः जीवों के युगल एकत्रित किये, उसी से मेरा हृदय भय से संत्रस्त हो रहा है, तिसपर भी, आपकी आज्ञा हुई, अब तो अवश्य ही अपने राज्य में जीव हिंसा नहीं होने दूंगा।

इस प्रकार मारिदत्त नृपतिको आज्ञा प्रदान कर और श्रीमुनि के चरणों को नमस्कार कर श्री गुरुकी आज्ञानुसार चंडिका देवी अदृश्य होकर निज स्थान को प्रयाण कर गई। तत्पश्चात्–

पुलकित– लोचन होते और और अपने कृत्यों की निंदा करते मारिदत्त महाराज निज हृदय में शुद्ध आत्मा के ध्यान में रत और दिग्गज समान गति के धारक श्री क्षुल्लक महाराज के चरणों में नमस्कार कर इस प्रकार निवेदन करने लगे–

मारिदत्त नृप–स्वामिन् ! आपने निज माता के आग्रह से कृत्रिम कुर्कुट का घात कर कुल देवता के अर्थ अर्पण किया उसी पाप से आप संसार–वन में इतने भ्रमें और इतना क्लेश भोगा कि जिसका पारावार नहीं तो मैंने जो अनेक जीवों के इतने युगलों का हनन किया कि जिसके देखने से वज्र हृदय भी दयापूर्ण हो जाता परन्तु मेरे हृदय में किंचित् भी दया नहीं आई।

नाथ ! धर्मवत्सल ! उपरोक्त कर्म पाप से नारकी जीवों के रक्त से व्याप्त अंधकारमय नारकियों के कोलाहल शब्द से पूर्ण और महारौरव नरक में पड़कर दुःसह वेदना का पात्र बनूंगा।

हे गुणरत्नाकर ! उपर्युक्त पापकी शान्ति के अर्थ समस्त पापों की निवृत्तिकरने वाली निर्ग्रन्थ वृत्तिका ही आचरण करुँगा। क्योंकि जबतक निर्जन वन गिरि गुफा आदि में निवास कर दिगम्बरी वृत्ति धारण कर पाणिपात्र आहार न करुंगा तबतक संसार रुपी दृढ़पाशसे मुक्त होना कष्ट साध्य ही नही किंतु असंभव है, इस कारण आप मुझे दीक्षा देकर कृतार्थ कीजिये।

इस प्रकार मारिदत्त नृपति के वचन सुनकर क्षुल्लक महाराज ने, मारिदत्त से इस प्रकार कहा–

क्षुल्लक—राजन् ! आपका विचार अत्युत्तम है परन्तु मैं स्वयं महाव्रत का धारक मुनिराज नहीं, इस कारण आपको दीक्षा नहीं दे सकता।

इसके सिवाय यह भी एक नियम और आचार—व्यवहार है कि यदि अपने गुरु निकटस्थ हों तो स्वयं दीक्षा, शिक्षा किसी को न देवे, और यदि हठात् देवे तो वह पापियोंकी पंक्ति में गिना जायगा। इस कारण तुमको अपने गुरु श्री सुदत्ताचार्य महाराज के निकट ले चलता हूं, वे ही आपको दीक्षा, शिक्षा देवेंगे।

इस प्रकार श्री क्षुल्लक महाराज के वचन सुनकर मारिदत्त नृप आश्चर्य युक्त होता हुआ निज हृदय में विचार करने लगा—

आहाहा ! जगत में तपस्या के समान कोई महान नही, क्योंकि समस्त मनुष्यों में पूज्य, मुझसे पूज्य चण्डिका देवी तथा देवी के गुरु क्षुल्लक महाराज और क्षुल्लक महाराज के भी गुरु श्री सुदत्ताचार्य हैं यह समस्त तप की महिमा है।

इस प्रकार अपने हृदय में विचार कर पुनः विनय पूर्वक हाथ जोड़ कर नृपति ने क्षुल्लक महाराज से कहा—

नृप—ार्मरत्न भंडार स्वामिन् ! आपके श्री गुरु कहाँ तिष्ठे हुवे है आप मुझे उनके निकट ले चलिये, मैं चलने को तैयार हूं।

इस भाँति नृपति की विज्ञप्ति सुनकर क्षुल्लक महाराज राजा को अपने साथ लेकर श्री सुदत्ताचार्य के पास पहुंचे।

वे श्री सुदत्ताचार्य महामुनि ! अवधिज्ञान नेत्र के धारक, देव मनुष्यों कर पूज्य, अष्ट मदों को निर्मद कर मोह मल्लको निर्जित कर गुण समृद्ध, अनेक ऋद्धियों कर पूर्ण होते हुए समस्त कर्मों के बल को जर्जरित किये हुए हैं।

वे दयानिधि दिगम्बराचार्य तप में तिष्ठे हुए दशधा धर्म को धारण करते निज आत्मा के ध्यान में मग्न हैं।

उन महातपस्वी आचार्यवर्य के निकट पहुंचकर क्षुल्लक महाराज और नृपति ने उन जगत् पूज्य श्रीगुरु के चरणों की वन्दना की पश्चात् भूमि से मस्तक लगाकर गुरुके चरणों के मूल में तिष्ठे। तत्पश्चात्–

उस अवसर में गुणों के समूहों से महान श्री सुदत्ताचार्य गुरु ने धर्म वृद्धि दी, जिसे संतुष्ट मन से नृपति ने मस्तक पर ग्रहण की।

तदन्तर हर्षित–चित्त होकर महाराज मारिदत्त ने श्री गुरुवर्य को नमस्कार करके कहा–

स्वामिन् ! मुझे आपकी भवावली के श्रवण की अभिलाषा है तथा यह मस्तक नीचा किये हुए गोवर्द्धन सेठ बैठा हुवा है इसके भवोंकी कथा, मेरे संसार–भ्रमण का चरित्र, इस शान्त चित्त हुए भैरवानन्दकी संसार कहानी, चण्डमारी देवी के भवों का वृत्तांत, तथा गुण प्रधान पुरुष यशोधर राजा,चन्द्रवदनी चन्द्रमतीरानी तथा महा अवगुणों की खानि दुश्चारिणी पापिष्ठा जारकर्म दक्षा अमृतमती, जगत्प्रसिद्ध विनय गुण युक्त यशोमति नृपति और लज्जावती, विनयवती, कुसुम कुमारी की भव सन्ति आप कृपा कर कहिए जिससे हमारा संशय दूर हो। इसके सिवाय घोड़ा के भी भवों का वर्णन कीजिये।

इस प्रकार मारिदत्त की प्रार्थना से आचार्यवर्य कहने लगे– राजन् ! यदि यही इच्छा है तो मैं कहता हूं तू चित्त लगाकर श्रवण कर जिससे तेरे हृदय का संशय तिमिर नष्ट होकर ज्ञान–सूर्य का प्रकाश हो जाय।

श्री आचार्य–राजन् ! उत्तम ऋद्धियुक्त प्रसिद्ध गंधर्व नामक देश है जहां खेतों में पके हुए शालिके वृक्षों की झनकार और चावलों की सुगन्धि से समस्त वन सुगन्धित हो रहा है, जिस देश में मृगनाभि (कस्तूरी) की सौरभ कर अति सुगन्धमय और अति उन्नत शिखरों की शोभा से गंधर्वनगर की शोभा को तिरस्कार करता गन्धगिरि नामका पर्वत है।

उस पर्वत के ऊपर धन कण कर सम्पूर्ण गृहों की पंक्ति और शुभाचारी मनुष्योंके निवासयुक्त गंधर्वपुर नामकी नगरी है जिसमें राज मार्ग का ज्ञाता वैदर्भ नामक राजा हुआ। वह नृपति अदृश्य और भोगोकर चिह्नित शरीर का धारक शत्रुबल के दलबल का घातक और राजनीति में अति निपुण न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करता था।

उस वैदर्भ नामक पृथ्वीपालके विंध्यश्री नामकीअति मनोहर पतिव्रता स्त्री थी। वह विंध्यश्री निज स्वर से कोकिला व निज गति से हंसिनी की विजेता थी जिसकी रूप सम्पदा को देखकर देवांगना भी लज्जित होती थी।

उस विंध्यश्री रानी की कुक्षि से कामदेव समान अनुपम रुप का धारक सज्जनों का प्रशंसनीय गन्धर्वसेन नाम का पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ तथा अति कोमल और क्षीण शरीर को धरनेवाली उत्तम लक्षणों युक्त गंधश्री नाम की पुत्री उत्पन्न हुई।

इन पुत्र पुत्री का मनोहर युगल ऐसा दृष्टिगत होता था मानों विधाता ने स्वयं उसका लालन–पालन कर जगत में उत्तम रूप लावण्य युक्त किया है। वह युगल जैसा ही रूपवान था वैसा ही स्वभावकर सौम्य और मधुर वचनों द्वारा लोगों का मनोरंजन करता था। वह युगल निज बाल लीलासे समस्त पुरजन और परिजन को प्रिय था। जिसका विद्याभ्यास अनेक सुरीतियों का बोधक और ज्ञानबृद्धि का मुख्य कारण था।

वह गन्धश्री नाम की पुत्री सुकोमलांगी गजगामिनी मृदुहासिनी निज माता पिता के चित्तको आनन्ददायिनी थी।

वह मानका रचने वाला सज्जन रूप कमलों का दिवाकर तुल्य, दुष्टजन गजराज को सिंह समान और दीर्घजीवी नरेश्वर अपनी पुत्री को पुत्र समान मानता और राज्य भोगता था।

उस वैदर्भ नामक नृपति के मन्त्रविद्या विशारद, सर्व विद्याओं में निपुण, राज्य भार चलाने में चतुर, राम नाम का मन्त्री था जिसके

रूप लावण्य गुण विशिष्टा पतिव्रता और निज पति की अनुगामिनी चन्द्रलेखा नाम की भार्या थी।

उस चन्द्रलेखा के उदर से उत्पन्न हुआ, दोष रहित, गर्व रहित, भय रहित रूप गुण का पात्र, शत्रु दल का विध्वसंक जितशत्रु नाम का पुत्ररत्न पृथ्वी पर प्रसिद्ध था।

उस जितशत्रु के भीम नाम का भ्राता पाप कर्म में चतुर भीम समान वलबान् और कपट चातुर्य में निपुण था।

श्री सुदत्ताचार्य मारिदत्त नृपसे कहने लगे–राजन् ! वह वैदर्भ नाम का राजा निज चातुर्य और न्यायपूर्वक राज्य करता काल व्यतीत करने लगा। एक दिन सखियों के साथ क्रीड़ा करती गंधश्री नामकी अपनी पुत्री को यौवनारूढ़ देखकर हृदय में विचार करने लगा कि पुत्री विवाह योग्य हुई है।

इसके वास्ते वर ढूंढ़ना परमावश्यक है ऐसा विचार कर अपनी पत्नी विंध्यश्री से इस प्रकार कहा–

वैदर्भ नृप–प्रिये ! आज पुत्री को देखकर मुझे इसके विवाह की चिंता उत्पन्न हुई है अर्थात् पुत्री विवाह योग्य हो गई है तो इसके लिए योग्य वर की खोज करना चाहिये। वर भी ऐसा होना चाहिये जैसी कि रूपवती गुणवती और रूप लावण्य गुण युक्त पुत्री है।

विंध्यश्री रानी–प्राणनाथ ! आप का कहना सत्य है परन्तु हम तो पुत्री के जन्म और पालन–पोषण के अधिकारी हैं। कन्या के योग्य वर की खोज करना आपके अधिकार में हैं, इससे आप ही योग्य वर की खोज कीजिये।

वैदर्भ नृप–प्रिये ! तुम्हारा कहना यथार्थ है परन्तु तुमको पूछ लेना तो सर्वथा उचित है।

विंध्य श्री–प्राणवल्लभ ! यह आपका अनुग्रह है परन्तु अब आप जैसा ही उचित समझें पुत्री का पाणिग्रहण करवाईये।

इस प्रकार महारानी से वार्त्तालाप कर द्वारपाल को बुलाकर मन्त्रिमण्डल को एकत्रित करने की आज्ञा दी, सो द्वारपाल ने समस्त मन्त्रियों को बुलाकर एकत्रित किया और राजाने उनसे इस प्रकार पूछा–

वैदर्भ नृप–(मन्त्रियों से) आज निज सखियों सहित क्रीड़ा करते देखकर पुत्री के विवाह की चिंता उत्पन्न हुई है सो आप लोग योग्य वर की खोज कीजिये।

राम मन्त्री–पृथ्वीनाथ ! आपकी आज्ञा शिरोधारण करता हूँ। यद्यपि प्रतापी राजाओं के अनेक पुत्र है तथापि पुत्री के योग्य वर दृष्टिगत नहीं होता क्योंकि नीति शास्त्र में सप्तगुण युक्त वर कहा गया है। यथा।

श्लोक

कुलं च शीलं च वपुर्वयश्च, विद्या च वित्तं च सनाथतां च।
एतान् गुणान् सप्त परीक्ष्य देया, ततः परंभाग्यवशा हि कन्या।।

अर्थ–उत्तम कुल, सुन्दर लोकप्रिय स्वभाव, नीरोग शरीर, पूर्ण आयु, लौकिक और परमार्थिक विद्या, योग्य धन और स्वामित्व सप्तगुणों की परीक्षा लेना चाहिए पश्चात् कन्या का भाग्य है।

स्वामिन् ! उपर्युक्त गुणविशिष्ट राजपुत्र मेरी दृष्टि में नहीं आता क्योंकि बहुत खोज करने पर भी कहीं कुल है तो अन्य गुण नहीं इत्यादि किसी में भी सातों गुण देखने में नहीं आते, इस कारण मेरी सम्मति तो यह है कि पुत्री स्वयं योग्य वर को देखकर उसके कण्ठ में वरमाला डाले तो अत्युत्तम होगा, क्योंकि गन्धश्री पुत्री स्वयं सामुद्रिकादि अनेक शास्त्रों की ज्ञाता है वही योग्य वर को वरे तो उत्तम है।

वैदर्भ नृप–तो क्या स्वयम्वर मण्डप बनवाना चाहिये।

राम मन्त्री–(हाथ जोड़कर)–श्री महाराज ! अवश्य स्वयम्वर मण्डप बनाना होगा और समस्त राजपुत्रों को निमन्त्रण भेजना होगा।

इस प्रकार राजमंत्री का कथन श्रवण कर महाराज ने अन्य मंत्रियों से भी सम्मति मांगी, सो सर्व मंत्रियों ने भी राम मन्त्री की भाँति स्वयंवर मण्डप की सम्मति दी।

महाराज वैदर्भ ने सर्व मंत्रियों की संमति से स्वयंवर करने की राय पक्की कर मंत्रियों को आज्ञा दी कि स्वयंवर मण्डप तैयार करा कर राजपुत्रों को बुलाने के लिए हलकारों द्वारा निमंत्रण पत्र भेजने की आज्ञी दी सो समस्त राजकर्मचारियों ने, जो जिसका काम था, उसने उसे सम्पादन किया।

स्वयंवर के अर्थ अत्युत्तम अनेक स्तंभों का मण्डप तैयार कर राजपुत्रों के बैठने योग्य रमणीक मनोरंजक स्थान निर्मापित किया।

अनेक देशों के राजपुत्रों का स्वागत राजकर्मचारियों ने सर्व प्रकार से अत्युत्तम किया। पश्चात् जिस समय समस्त राजकुमार अपने–अपने वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर मण्डप में बैठे उसी समय गंध श्री नामकी राजपुत्री ने अपनी सखियों सहित स्वयंवर मण्डप में आकर समस्त राजकुमारों पर दृष्टिपात किया।

उस समय वृद्ध खोजा ने सर्व कुमारों के नाम, कुल, गुण स्थान पराक्रम आदि का वर्णन किया। परन्तु राजकुमारी के हृदय में एक भी राजपुत्रने प्रवेश न किया, किंतु रामनाम नामक मंत्रीका पुत्र जितशत्रु जो यथार्थ में जितशत्रु ही था उसके कंठ में वरमाला डाली।

जिस समय राजपुत्री ने जितशत्रु के कण्ठ में वरमाला डाली उस न्यायवान् नृपतियों ने धन्य धन्य ! वाह वाह ! का शब्द सर्व ओर से प्रतिध्वनित होने लगा।

पश्चात् विधि पूर्वक पाणिग्रहण हुआ उस समय शंख, तुरही, भेरी आदि अनेक वादित्रों के शब्द से सर्व दिशा बधिर होने लगी इसके सिवाय और भी अनेक प्रकार के उत्सवों से विवाह का कार्य समाप्त हुआ।

तदन्तर जितशत्रु अपनी प्रिया सहित सुखपूर्वक मनोरंजन क्रीड़ा करता काल व्यतीत करने लगा।

अथानन्तर एक दिवस वैदर्भ महाराज मृगया (शिकार) के लिए अनेक बधिक (शिकारी) आदि अनेक शस्त्रधारी सुभटों हिंसक जानवरो सहिंत वनको गए। वहां हिरण के युगल को दूब के अकुंर चरते देख बाणका निशाना लगाया वह हिरण और हिरणी दोनों ही यह आपत्ति देख वहां से भागे परन्तु भागकर कहाँ जा सकते थे ?

राजा ने भी उनके घोड़ा दौड़ाकर बाण छोड़ा सो हिरणी बाण से वेधित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी।

उस प्राण रहित मृगी को बधिकों ने उठाकर प्रयाण किया पश्चात् उस दौड़ते हुए हिरणने जब मृगी–निज स्त्री के मरण को देखा तो दिशाभूल होकर पुकारता हुआ इतस्ततः भ्रमण करने लगा।

वह हिरण निज पत्नी के विरह में व्याकुल ऐसा अंध हो गया कि उसे अपने प्राणों का भय न रहा। किन्तु दौड़ता गिरता शब्द करता और नेत्रों से अश्रुधारा बहाता मृतक हिरणी की ओर आया।

उस समय हिरण की शोकपूर्ण अवस्था देखकर राजा वैदर्भ का हृदय दया–रस से आर्द्र होने लगा।

उस समय करुणारस से पूर्ण गर्व रहित हुआ राजा वैदर्भ अपने हृदय में चिंतवन करने लगा–हा शोक ! मैं इन्द्रियों के विषयों में आशक्त होकर शारीरिक क्रियामें लंपट अज्ञानी होता हुआ इतने काल से धर्म अधर्म तथा उसके फल सुख दुख से अनभिज्ञ ही रहा।

हाँ ! मैंने विषयों में सुख मान किसी भी प्रकार का परोपकार न किया किन्तु निरपराध जीवों की हिंसा कर उल्टा पाप का बन्ध किया।

राजा विचार करने लगे– अब मुझे समस्त पापकर्मों का त्यागकर धर्म सेवन करना ही उचित हैं क्योंकि इन विषयों का सेवन करने से

कल्प काल में भी तृप्ति नहीं होगी। इसके सिवाय ये विषय वर्तमान में तो उत्तम ज्ञात होते हैं किन्तु परिपाक में अति विषम और नरकादिकों ले जाने वाले हैं।

इस प्रकार संसार देह और भोगों से विरक्त होकर नृपति निज गृह जाकर सर्व राजमण्डल को एकत्रित कर निज वैराग्य की सूचना करने लगे।

यद्यपि समस्त राजकर्मचारीगण और रनिवास आदि ने राजा के वैराग्य से शोकाकुल होकर राजा को दीक्षा से निवृत्ति करने के लिए अनेक प्रकार षड्यंत्र रचे, परन्तु वैराग्य–विभूषित नृपति किसी प्रकार न रुके, किन्तु अपने प्रिय पुत्र गंधर्वसेन को राज्यासन समर्पण कर तपोवन को गमन कर जैनाचार्य के निकट जिन दीक्षा ग्रहण करली।

उसी समय महारानी विंध्यश्री ने भी आर्यिकाओं के निकट समस्त परिग्रह का त्याग कर एक श्वेत साड़ी मात्र धारण कर भगवती के यश को प्रकाशित करती आर्यिका के व्रत को ग्रहण कर लिया।

वे वैदर्भ महाराज समस्त वस्त्राभूषणादि परिग्रह का त्याग कर परम दिगम्बरी दीक्षा धारण कर सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूपी धन से अलंकृत हो दिशारूप वस्त्रों को धारणकर महामुनि हुये।

वैदर्भ महाराज मुनि हुए पश्चात् गन्धर्वसेन शत्रुओं के मान को मर्दन करने वाले राज्यासन पर बैठा।

वह गन्धर्वसेन गजराज, अश्व, रथ, पयादे आदि राज्य ऋद्धि युक्त न्याय पूर्वक प्रजा का पालन करने लगा।

एक समय उस गन्धर्वसेन ने अपनी सेना सहित यत्न पूर्वक पवित्र और निर्मल–चित्त निज पिता वैदर्भऋषि के निकट गमन किया।

उस समय वैदर्भ ऋषि सन्यास में तिष्ठे हुए थे। जिस समय गन्धर्वसेन को चतुरंग सेना सहित पूर्ण तेजयुक्त देखा, उस समय वैदर्भनृपने निज हृदय में निदान किया कि मैं निज व्रत के प्रभाव से इस प्रकार की ऋद्धि का धारक धरापति होऊँ।

श्री ग्रंथकर्त्ता कहते हैं कि हा ! धिक् ! इस निदान बंध को कि अमूल्य रत्न को तंदुल से तुष (भूसी) में दे दिया ! जिस तपश्चरण के प्रभाव से इन्द्रादि पद तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है उस महान् फलदायक व्रत के फल को किंचित् विभूति के लोभ में विक्रय कर दिया।

पश्चात् वह मिथ्यात्व से दूषित वैदर्भऋषि आयु के अन्त में मरण को प्राप्त होकर उज्जैनी नगरी में यशोधर राजा के गृह में यशोधर नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह यशोधर निज यश से समस्त दिग्मंडल को पूरित करता था। समुद्रांत पृथ्वी के स्वामित्व का राज्य पट्ट निज ललाट पर धारण करता था।

विंध्यश्री (विदर्भ की रानी) जो आर्यिका हुई थी भगवान के चरण कमल निज हृदय में धारण कर तपश्चरण कर शरीर का शोषण करती और मिथ्यात्व के उदय से गंगादि सरिताओं में तीर्थ की कल्पना कर स्नान करती अन्त समय मरणको प्राप्त होकर अजितांगज राजा के गृह चंद्रमती नामकी पुत्री हुई।

वह चन्द्रमती स्वभाव की भोली और बुद्धिकर मंद थी उसके साथ यशोर्ध नृपति ने विवाह कर लिया। पश्चात् चंद्रमती की कुक्षी से यशोधर नामका पुत्र–रत्न उत्पन्न हुआ।

वह यशोधर अपने परिवार के पोषण में कल्पवृक्ष तुल्य हुआ। एक समय जब यशोधर महाराज को वैराग्य उत्पन्न हुआ तब यशोधर को राज्यासन पर स्थापन कर समस्त राज्यभार सम्पूर्ण किया।

पश्चात् यशोधर महाराज समस्त परिवार और शरीरादि से मोह का त्याग कर द्वादश विध तपश्चरण कर अन्त समय समाधि मरण कर छट्ठे ब्रह्मोत्तर नामक स्वर्ग में बड़ी ऋद्धि का धारक देव हुआ।

महाराज वैदर्भ की गन्धश्री नामकी पुत्री जो कि मंत्री के पुत्र जितशत्रु के साथ ब्याही गई थी, वह पाप कर्म के उदय से अपने

देवर (जितशत्रु के लघुभ्राता) भीम से आसक्त–चित्त होकर गुप्त रीति से भोगों में संसक्त–चित्त हुयी।

एक दिवस जितशत्रु ने गुप्त रीति से निज पत्नी गन्धश्री का कुत्सित कर्म देख लिया सो सत्य ही है कि अशोभन पापकर्म कितना ही छिपकर किया जाय, किंतु किसी दिन प्रगट हो ही जाता है।

जितशत्रु ने अपनी भार्या का व्यभिचार जैसे ही देखा था कि तत्काल स्त्रियों के चरित्र और संसार देह भोगों से विरक्त होकर तपोवन में जाकर जैन दिगम्बराचार्य के निकट जिन दीक्षा धारण कर चिरकाल तपश्चरण कर अंत समय समाधि मरण कर चन्द्रमती (राजा वैदर्भ की रानी विंध्यश्री के जीव) के गर्भ से यशोधर नाम का पुत्र हुआ था।

वही राजा यशोधर ! यशोधर के पीछे राज्य शासन करता न्यायपूर्वक प्रजा पालन करने लगा।

जितशत्रु की माता निज पुत्रवधू के व्यभिचार के कारण जितशत्रु का वैराग्य होना श्रवण कर निज भर्तार राम सहित ब्रह्मचर्य नामक व्रत ग्रहण कर अन्त समय समाधिमरण कर दृढ़ ब्रह्मचर्य के प्रभाव से विजयार्द्धगिरि पर उत्पन्न हुए।

और राजा वैदर्भ का पुत्र जो गंधर्वसेन था वह भी गंधश्री का अशोभन कर्म श्रवण कर स्त्रियों के कुत्सित कर्म की निन्दा करता श्री मज्जैन मत की शिक्षा ग्रहण कर अनशनादि व्रत का आचरण कर निदान सहित मरण को प्राप्त होकर तू मारिदत्त हुआ सो अब तू निज आत्मा का स्वरूप जानकर आत्म कल्याण कर।

भो राजन् मारिदत्त ! जन धन और कण (धान्य) कर पूर्ण गुण भरित और रमणीक मिथलापुरी में अन्य कथांतर श्रवण कर!

राजन् ! उस मिथलापुरी नाम की नगरी में गुणों के समूह से शोभायमान सम्यक्त्व रत्नसे विभूषित व्रत दानरूप कार्य और श्रुतके अर्थ का धारक जिनदत्त नाम का श्रावक सेठ प्रचुर द्रव्य का धनी था।

नृपवर ! राजा यशोधर का घोटक जो जलावगाहन के समय महिष द्वारा मरण को प्राप्त हुआ था वह जिनदत्त की गाय के उदर से दृढ़ और दीर्घ काय वृषभ उत्पन्न हुआ।

कालांतर एक दिन जब वह वृषभ आसन्न मृत्यु हुआ तब जिनदत्त सेठ ने उसे पंचणमोकार मंत्र श्रवण कराया। उसने संसार के दुःखों से तप्तबलधन ध्यान, पूर्वक णमोकार मन्त्र का श्रवण किया, जिसके फल से हे राजन् मारिदत्त ! तेरी रुक्मिणि रानी के श्रेष्ठ गर्भ से पृथ्वी वलय में प्रतापधारी, और शत्रुओं के मानका मर्दक रिपुमर्दन नामका पुत्र हुआ।

नृपवर ! राममन्त्री का लघु पुत्र जो कि निज भावज गंधश्री से व्यभिचार कर्म सेवन करता था वह पाप कर्म के योग से संसार समुद्र में पतन कर पापिष्ट कूबड़ा हुआ।

और कुटिल–चित्ता गन्धश्री व्यभिचार रूप कुत्सित कर्म से क्षीण शरीरा काल की कुटिलताकर मरण को प्राप्त होकर विमल वाहन नृप की रानी के गर्भ से अमृतामती नामकी पुत्री हुई जिसका यौवनारम्भ में दैवयोग से यशोधर महाराज से पाणिग्रहण हुआ।

नृपश्रेष्ठ ! वह अमृतमती जोकि पूर्व भव में गंधश्री थी उसने पूर्व संस्कार से भीम का जीव जो कूबड़ा हुआ उससे पुनः व्यभिचार सेवन किया।

राजन् ! अब तुझे यशोमति और अभयरुचिकुमार की वार्ता सुनाता हूँ अर्थात् राममन्त्री जो कि मरण प्राप्त होकर विजयार्ध गिरि पर उत्पन्न हुआ था।, वह दिनकर तुल्य प्रताप का धारक होता हुआ ब्रह्मचर्य पूर्वक अणुव्रतों का पालन कर शुभ कर्म के योग से समाधिमरण कर यशोधर राजा की रानी के गर्भ से यशोमति नामक वीर पुत्र हुआ।

राम मन्त्री की स्त्री जितशत्रु की माता जो कि ब्रह्मचर्य के प्रभाव से विजयार्धगिरी पर चन्द्रलेखा नामकी विद्याधरी हुई थी वह

धर्म सेवन कर अन्त समय समाधिमरण कर यशोमति की रानी कुसुमावली हुई थी वह समस्त विद्याओं में निपुण दोनों कुलों को उज्ज्वल करती हुई सुखपूर्वक तिष्ठी।

सुभटों कर रक्षा किया हुआ और तीक्ष्ण खुरों कर चपल जल पीते हुए राजतुरंग को जैसे ही देखा, तत्काल रोषके आवेशमें महिषेश्वर ने घोड़े को मारा।

इस प्रकार मुनि महाराज के वचन श्रवण कर महाराज मारि दत्तने श्री मुनि को नमस्कार कर पुनः पूछा–स्वामिन् ! भो संशय तिमिरभास्कर ! महिष ने राज–तुरंग को किस कारण जल–पान करते मारा ?

श्री मुनि बोले- राजन् ! यह प्राणी पूर्व वैर के योग से एक दूसरे का घात करता है–पूर्वभव के रोष रूप अग्नि में भस्म होता है इसी प्रकार इन दोनों में पूर्वभव का वैर था अर्थात् घोटक के जीव ने महिष के जीवका घात किया था उसी पूर्व वैरानुबंधी से महिष ने घोटक का विनाश किया।

पृथ्वीपाल ! ज्ञानीजन इसी कारण किसी जीव से वैर धारण नहीं करते क्योंकि जो एकबार किसी का घात करता है वह अन्य जन्म में उसके द्वारा स्वयं घात किया जाता है।

धरानाथ ! जो कि बछड़े के जीव को सेठने णमोकार मंत्र दिया था उसके प्रभाव से स्त्री के गर्भ में तिष्ठा वह समयांतर में जन्म लेकर यौवनारंभ में दिनकर तुल्य प्रताप का धारक राजा होकर पृथ्वी का पालक हुआ।

राजन् ! वह तेरा पुत्र चिरकाल पर्यंत राज्यका पालन कर भगवान् सर्वज्ञ वीतराग के मार्ग का पथिक बनकर चित्राँगद नाम का धारक महाबली तेरे दिये हुए राज्य को त्याग, भगवती दीक्षा धारण कर, नदी सरोवरादिका अवगाहन करता हुआ पृथ्वी पर भ्रमण कर तेरे नगर के श्रेष्ठ देवीगृह प्रति आया।

वहां तप करता हुआ निजचित्त में इस प्रकार वांच्छा करने लगा–मैं तप के प्रभाव से इस देवी की विभूति को प्राप्त होऊँ।

नृपवर ! उस मिथ्यादृष्टि ने निदान द्वारा अमूल्य रत्नको कौड़ियों में बेच डाला अर्थात् मरकर मिथ्यात्व के योग से स्त्री की पर्याय में चण्डमारी देवी हुई।

और तेरी माता का जीव संसार में भ्रमण कर मिथ्यात्व के योग से यह भैरवानन्द हुआ जिसे तूने बार बार प्रणाम किया, जिसकी आज्ञा से तूने देवों की बलि के अर्थ अनेक जीवों के युगल एकत्रित किये।

अब यह भैरवानन्द जो कि अधोमुख किये हुए करुण रस से पूरित तिष्ठा हुआ है यह मरण को प्राप्त होकर कल्पवासी देव होगा।

श्री मुनिराज और भी कहने लगे–

राजन् ! यह उज्जैनी नगरी का यशोबध नाम का जगत्प्रसिद्ध उच्छस्कंधका धारक प्रजापालक था। वह षट् दर्शन (मत) का भक्त था। उसने अनेक कुदेवों के मठ बनाकर मूर्ति स्थापना की, अनेक तालाब और बाबड़ी बनवाई, अनेक धर्मशालाऐं बनवाई, जिनमें सहस्त्रशः तापसों को भोजनादि सामग्री से तृप्त किये।

तथा ऊंचे ध्वजा और शिखरों मंडित रत्न खचित जिनराज के मन्दिरों की उत्तम प्रकार से प्रतिष्ठा भी कराई, जैन साधुओं को आहारदान भी दिया और दुःखित जीवों को करूणाकर औषधि आहारादि दान वितरण किया और अनेक प्रकारकी भोग क्रीड़ा करता चिरकाल पर्यंत राज्य शासन कर पश्चात् मरण समय मिश्रभाव के योग से मरण प्राप्त होकर कलिंग देश के स्वामी महामदकर मदोन्मत्त भगदत्त नामक महाराज की भार्या से सुदत्त नामका मैं पुत्र–रत्न उत्पन्न हुआ।

मैं सुदत्त नाम का राजा राज्य शासन करने लगा। एक दिवस कोटपालने दृढ़ बन्धनयुक्त चोर को लाकर मेरे सन्मुख सभाग्रह में उपस्थित किया और सनम्र होकर इस प्रकार विज्ञप्ति करने लगा–

(हाथ जोड़कर) श्री महाराजकी जय हो। आज यह चोर बड़े प्रयत्न से पकड़ा है, आप इसके योग्य दण्ड देने की आज्ञा दीजिये।

महाराज सुदत्त (मैं) – इस समय इस चोर को कारावास में स्थापित करो पश्चात् विचार कर इसको दण्ड दिया जायगा।

इस प्रकार मेरी आज्ञा सुनकर कोटपाल 'जो आज्ञा महाराज की', कहकर उस चोर को राजवाड़े में ले गया।

श्री सुदत्ताचार्य कहने लगे –राजन् ! कोटपाल चोर को ले गया पश्चात् मेरे निकट तिष्ठे हुए विद्वान ब्राह्मणों से मैंने पूछा कि इस दुष्ट चोर को क्या दंड देना उचित है ?

एक ब्राह्मण–श्री महाराज ! इस चोर के प्रथम पांव, कान नाक का छेदन करें पश्चात् इसका मस्तक छेदन करना चाहिये।

द्वितीय ब्राह्मण–पृथ्वीनाथ ! यद्यपि इस चोर को यही दंड उचित है तथापि ऐसा करने से आप पाप के भागी अवश्य होंगे। इस कारण इस पाप से मुक्त होने के प्रायश्चित्त का प्रथम विचार कर लेना आवश्यकीय है।

अन्य ब्राह्मण–श्री महाराज, धरानाथ! यद्यपि इनका कहना सर्वथा सत्य है परन्तु राजनीति के विषय में ऐसा विचार नहीं किया जाता क्योंकि यदि इसके अपराध योग्य दण्ड न दिया जायेगा तो भी पाप के भागी होंगे क्योंकि अपराधी को दंड देना राजनीति के अनुसार राजा का धर्म है और अपराध के योग्य दंड न दिया जायेगा तो समस्त प्रजाजन अन्याय से प्रवर्त्तने लग जायेंगे।

इस प्रकार विद्वान् विप्रों की वार्ता श्रवण कर मैं सुदत्त निज हृदय में विचार करने लगा–अहो ! इस संसार में जैसा करो उसी में पाप है। यदि दंड देते हैं तो पाप और जो छोड़ देते हैं तो भी पाप हैं, इस कारण समस्त पापों की जड़ यह राज्य ही है इस कारण इस राज्य को जीर्ण तृण की भांति त्याग कर दिगम्बर दीक्षा धारण करूंगा।

इस प्रकार विचार कर समस्त राज्य और कुटुम्ब आदि से ममत्व त्याग निर्जन वन में समस्त परिग्रह का त्यजन कर जैनेश्वरी दीक्षा धारण करता हुआ । पश्चात् तीर्थ क्षेत्रादिकों में पर्यटन करता हुआ संघ सहित अनेकवार इस नगर में आया।

श्री सुदत्ताचार्य कहते हैं कि मैं इस अवसर पर यहां चार प्रकार का संघ जो मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका के सहित तीव्र तपश्चरण करता हुआ तृण और कांचन को समान मानता हुआ, शत्रु मित्र को समान जानता हुआ आया। उज्जैन नगरी में यशोधर राजा का गुणसिन्धु नाम का मंत्री था।

जिसने मनुष्यों में शांति उत्पन्न की उसने अपना मंत्री पद नागदत्त नामा पुत्र को दिया जो घर के भार का वहने वाला तथा पिता के चरणों का भक्त था। गुणसिंधु मंत्री परिग्रह को त्यागकर साथ घर विषैं तिष्ठा। वह शुभ भावकर युक्त शुभ परिणाम करि विचरे है। वह शरीर त्याग श्रीपति नाम वणिक के घर गोवर्द्धन नामा पुत्र हुआ।

कैसा है गोवर्द्धन ! गुणन कर शोभायमान अर सम्यक्त्ववान, अर दैदीप्यमान है ललाट जाका, अरू करूणा विषै तत्पर, अर परोपकारी अर यशोमति राजा को सम्बोधन करने वाला, अरु हेमारिदत्त राजा देखियो, उदासीन मेरे संघविषैं तपलक्ष्मी का घर अर नरेन्द्र है सो समस्त शब्द सुन अर आनन्द अर शोक कर पूरित ही कहा, मानो या अवसर में मैं हूं सो विनय ताहि करी।

अरे हे साधू, सम्बोध कर अर प्रभु जो आप हो सो धर्म–लाभ है सो किया भले प्रकार प्रसन्न होय मोकूं दीक्षा दो ताहि तपश्चरण ताहि आचरण करूंगा। अर शिक्षा ताहि पालन करूंगा। तदि गुरू दीक्षा दिगम्बरपणा विषैं तिष्ठा। हे मारिदत्त राजा, ऋद्धि हैं सो त्याग, तदि नरपति सहित निर्ग्रन्थ दीक्षा कर शोभायमान भया वैराग्य ताहि भया। अर भैरवानंद है सो प्रणाम करे है।

भो स्वामिन् ! स्वामीपणा करदीक्षा के प्रसाद से शोभायमान है ताहि करो। गुणविशाल ऐसा मुनि है सो कहै , दीक्षा तेरे नाही है जा

कारणतें तेरे हाथ में छह अंगुली हैं। तो हे देव ! कहा करों। तदि साधु कहे हैं कि तू अणुव्रतों को पालन कर, तेरी आयु अल्प है सो दीखे हैं सो तू देह विषै शीघ्र सुन्दर उपाय कर। तदि भैरवानन्द ने सन्यास ग्रहण किया। बाईस दिनपर्यंत चार प्रकार का सब आहार त्यागकर और समाधिमरण कर तीसरे स्वर्ग विषे भैरवानन्द उपजा।

बहुरि अभयरूचि क्षुल्लक ने हू क्षुल्लकपणा त्याग तहां तिसही क्षण विषैं ऋषिपणां अंगीकार किया। अर कामदेव को

ध्यान के प्रभाव कर रोका, अरू पांचों इन्द्रियों के विषयनते इन्द्रियन को रोकी अरू अभयमति भी विरक्त भाव होती भई। कुसुमावली ने अर्जिका का चरित्र अंगीकार किया। निर्ग्रन्थ मार्ग को निर्मल ग्रहण किया।

अरू अभयरूचि जे मुनि तिन से गुण का समूह तिन को स्मरण करते दोनों अभयमति और कुसुमावली तिस देवी के वनविषैं चार प्रकार की आराधना मनविषैं धर दर्शन, ज्ञान, चारित्र, अरू तप ये चार आराधना आराधकर अरू बारह प्रकार के तप पाप का हरने वाला,अरू पन्द्रह दिन का सन्यास, अरू भली समाधि–मरण कर दोनों ही प्राण त्याग दूसरे ईशान स्वर्ग विषैं देव होते भये। उस समय शीघ्र ही सैंकड़ों देव सेवा करने लगे। सम्यक्त्व के बल से स्त्री लिंग छेद देव होय विमान संबन्धी अनेक क्रीडा करते भये।

तहां दोऊ देव जिन मंदिरों में अकृत्रिम प्रतिमाओं की वंदना करते भए। कैसे हैं जिन भवन ? जगत विषै उत्तम हैं अरू सम्यक्त करि स्वर्ग मोक्ष ताहि के प्राप्त कराने वाले हैं। अरू सम्यक्त्व कर निश्चयते सुख होय ही है। तिस देवी के बन में सुदत्ताचार्य चार प्रकार के संघ कर वेष्टित सिद्धगिरि नामा पर्वत पर यतिपति हैं सो शीघ्र ही प्राप्त भया तहां सुदत्ताचार्य सिद्धगिरि पर्वत विषे तिष्ठते संसार की अनित्यभावना को चिंतवन करते हैं कि संसार की गति है सो नित्य नाहीं है। सुन्दर सत्य आराधना को आराधन कर और एकाग्र चित्त हो सत्यार्थ पणा कर सात तत्वों को जान संन्यास धारण कर भली समाधि से युक्त सातवें स्वर्ग में प्राप्त भये।

यरू यशोमति राजा अरू 'कल्याण' मित्र अरू अभय नामा, अरू मारिदत्त, अरू वणिक कुल रूप के कमल के बोधने में सूर्य गोवर्द्धन सेठ,

अरू गुण के समूह कर विशिष्ठ, अरू कुसुमावली पाली है तीन गुप्ति जानैं, ऐसी अभयमति या प्रकार राजा की पुत्री भव्य दुर्नय के नाश करने को तप आचरण कर और सुन्दर सन्यास कर स्वर्ग को प्राप्त भए।

गन्धर्व नगर विषैं कन्हड़ का पुत्र मुझ पुष्पदंत कवि ने भवन का वर्णन थिर मनकर किया सो मोकूं दसेष नाहीं दीजिये, पूर्व कवि वछरायकरि कहा सूत्रताहि प्राप्त होय अरू मैं कवि पुष्पदंत ने यशौदर चरित्र रचा सो जानना।

जो तीव्र दया विषै तत्पर प्रहार को नाहीं करने वाला ब्रह्मचारी, अरू हराया है जरा मरण जाने और ज्ञान ही हैं नेत्र जाके ऐसा पाप रहित धर्म अरू पुष्पदंत जिन मेरे शरण होहु। पाँच पाप को नाश करने वाली मुग्धनामा ब्राह्मणी के विषैं उपजा सुन्दर श्याम हैं वर्ण जाका अरू काश्यप गोत्र अरू केशव ब्राह्मण का पुत्र जिनेन्द्र के चरणों का भक्त, अरू धर्मविषैं आसक्त, व्रतसंयुक्त, उत्तमप्राणी, निःशंक, अभिमान करि चिह्नित अर प्रसन्न है मुख जाका।

और कवि का खण्ड कहिये अल्प कवि, अरू रंजायमान करी है पंडितों की सभा जाने, अरू यशोधर महाराज की कथा करी है, जो पुरूष मनोज्ञ–मन कर सुने हैं पढे हैं पढावे हैं।

और इसका जगत में प्रकाश करे हैं सो नर ज्ञानावरणादिक कर्म के पटल को उखाड़ शास्वती केवल ज्ञान सम्पदा को पाय मोक्ष को प्राप्त होय है।।

सो हे मात ! हे महासती देवी ! सरस्वती ! सन्देह दुःख तूने हरे हैं। हे भट्टारक जी ! भुवनविषैं है, सो मुझ पुष्पदंत को जिन कर कहा वचन रूप वाणी क्षमतु कहिंये क्षमा करो।

इति महामान्य नन्हकर्णाभरण पुष्पदन्त महाकवि विरचित श्री यशोधर चरित्र महाकाव्य में यशोमति, कल्याणमित्र, मारिंदत्त और अभयरुचि स्वर्ग गमन नामक चतुर्थ परिंच्छेद समाप्त हुआ।।४।।

ग्रन्थ समाप्त